सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी

पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला— ३९

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

(निबन्ध-संग्रह)

लेखक

राष्ट्रियपण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी

निदेशक, शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशक

शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी० ३५/७७ जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी — २२१ ००१

प्रथम संस्करण, २००४ ई०

मूल्य : सजिल्द रु० ३५०/-
अजिल्द रु० ३००/-

अक्षर संयोजन :
सार पब्लिकेशन
ई० ८, फेज-२, प्रेमचन्द कालोनी, पाण्डेयपुर,
वाराणसी - २२१ ००२

मुद्रक :
मित्तल आफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series—39

SĀNSKṚTIKA RĀṢṬRAVĀDA

By

PT. VRAJAVALLABHA DWIVEDI

Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM

D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-68-8(Hb)
81-86768-69-6 (Pb)

First Published - 2004

Price : Rs. 350 (Hb) Rs. 300 (Pb)

Laser Typeset :
SSAR Publication
E-8, Phase-2, Premchand Colony, Pandeypur,
Varanasi - 221 002

Printed at :
Mittal Offset
Sunderpur, Varanasi - 221 001

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक श्री काशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का



शुभाशीर्वचन

पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी तन्त्रागमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं एवं संस्कृत सारस्वत-लोक के गिने-चुने विद्वानों में एक हैं। इनके द्वारा हिन्दी और संस्कृत भाषा में विभिन्न विषयों के जिन अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है, उनमें तन्त्रागमशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ अधिक हैं। पं. श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के लिए चन्द्रज्ञान, मकुट, सूक्ष्म, पारमेश्वर आगम, सिद्धान्त सारावलि, सिद्धान्तप्रकाशिका आदि अनेक आगम-ग्रन्थों का हिन्दी भाषा में सुन्दर ढंग से अनुवाद एवं संपादन किया है। इसी प्रतिष्ठान द्वारा सिद्धान्तशिखामणि पर आयोजित गोष्ठी का विवरण भी इन्होंने प्रकाशित कराया है। काशी तथा अन्यत्र आयोजित गोष्ठियों और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनके शास्त्रीय और संस्कृति-सम्बन्धी विषयों पर अनेक निबन्ध प्रकाशित होते रहे हैं। इसी तरह के निबन्धों का यह नवीन संग्रह "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" के नाम से शैवभारती शोध प्रतिष्ठान ग्रन्थमाला में प्रकाशित कराते हुए हमें एक अनोखी संतुष्टि हो रही है।

इससे पहले इनके अन्य भी पाँच निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें दो संस्कृत निबन्धों के और तीन हिन्दी निबन्धों के हैं। "तन्त्रयात्रा" तथा "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" ये दो संस्कृत निबन्धों के एवं "आगम और तन्त्रशास्त्र", "निगमागम संस्कृति" तथा "भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप" ये तीन हिन्दी निबन्धों के संग्रह हैं।

इन सभी संग्रहों की कुछ चुनी हुई सामग्री के साथ भारतीय संस्कृति सम्बन्धी नवीन विचारों का समावेश कर "भारतीय संस्कृति के नये आयाम" शीर्षक पाँच परिच्छेदों वाला एक ग्रन्थ सन् १९९७ में नई दिल्ली स्थित श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) से प्रकाशित हुआ तथा "एक विश्व : एक संस्कृति" नाम का दूसरा ग्रन्थ वाराणसी की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था विश्वविद्यालय प्रकाशन से। इस ग्रन्थ का लोकार्पण भारत के उपराष्ट्रपति महामान्य श्री भैरवसिंह शेखावत ने किया था। इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने यह स्थापित किया है कि भारतीय संस्कृति में विश्व-संस्कृति के निर्माण के सर्वाधिक उपादान विद्यमान हैं और इसकी सहायता से विश्वसंस्कृति के स्वरूप-ग्रहण करने पर सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति की स्थापना हो सकती है।

यह सही है कि इस प्रपंच में अनेक संस्कृतियाँ हैं, किन्तु उनमें भारतीय संस्कृति का अपना अलग ही महत्त्व है। भारतीय संस्कृति किसी अन्य संस्कृति से द्वेष नहीं करती, बल्कि गुणों के आधार पर सबको अपनाती है। भारत में अनेक धर्मों और दर्शनों का प्रचार होने का यही कारण है। भारतीय संस्कृति भगवत्प्राप्ति के किसी भी उत्तम मार्ग का विरोध नहीं करती, अपितु विभिन्न रुचियों के कारण मार्गों में विविधता होने की बात को स्वीकार करती है। इस बात की पुष्टि के लिए ***"रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव"*** पुष्पदन्त की इस उक्ति को प्रमाण के रूप में देख सकते हैं।

इसका निष्कर्ष यह कदापि नहीं होना चाहिए कि जो कोई आए, जैसे भी रहे, कुछ भी करे, तो भी भारतीय संस्कृति उन सबको कायर की भाँति देखते हुए मौन रहती है। यह संस्कृति अपने ऊपर अन्यायपूर्वक आक्रमण करने वालों को सदा सबक सिखाती आयी है। तभी तो अब तक यह जीवित है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति सहनशील भी है और अन्याय के प्रतिरोध में सक्षम भी।

अपने समग्र लेखन में श्री द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति के इस स्वरूप को समस्त विश्व के सामने प्रबल युक्तियों के सहारे स्थापित करने का प्रयत्न किया है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि श्री द्विवेदी जी के इन उदात्त विचारों को प्रकाश में लाने में हमारी संस्था का सर्वाधिक योगदान रहा है। वृद्धावस्था और रुग्णता के कारण शरीर के जर्जर हो जाने पर भी श्री द्विवेदी जी की सारस्वत साधना थमी नहीं है। निःसन्देह यह श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है। हम श्री द्विवेदी जी के स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य की कामना करते हुए इस शुभाशीर्वचन को पूरा करते हैं—

इत्याशिषः।

●●●

प्रस्तावना

गोधरा कांड के बाद गुजरात के चुनाव परिणामों ने 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' एक अच्छा शब्द दिया है। इसके अन्य भी अच्छे परिणाम निकलते, यदि बीच में अनुचित हस्तक्षेप न हुआ होता। इधर हम देख रहे हैं कि 'जय जवान', 'जय किसान', 'जय भारत' जैसे भले नारों के स्थान पर 'गुड फील', 'इण्डिया शाइनिंग' जैसे नारों का प्रचार भारतीय जनता दल के बड़े-बड़े नेता और राष्ट्रीय हिन्दी दैनिक भी बढ़-चढ़ कर कर रहे हैं। अब कुछ नेताओं का कहना है कि इन नारों से हमें कोई लाभ नहीं मिला। ये नारे विदेशी भाषा में क्यों गढ़े गए? इस पर सब मौन साधे हैं। भारतीय जनता दल द्वारा किया गया क्या यह राष्ट्रभाषा का अपमान नहीं है? इससे हमें ऐसा लग रहा है कि राष्ट्रीयता का प्रतीक यह शब्द कहीं अकाल में ही काल के गाल में न समा जाय। अतः हमने इस निबन्ध-संग्रह का नाम ही '**सांस्कृतिक राष्ट्रवाद**' रख दिया है।

संस्कृत और हिन्दी के हमारे पाँच-छः निबन्ध-संग्रहों का प्रकाशन अब तक हो चुका है। सन् २००२ में प्रकाशित 'भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप' के प्रारम्भ में 'अपनी बात' में इनका परिचय दिया जा चुका है। इसके बाद 'एक विश्व : एक संस्कृति' का प्रकाशन सन् २००३ में विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से हुआ। इन सबमें प्रकाशित हिन्दी निबन्धों की और चुने हुए संस्कृत निबन्धों की नामावली यहीं परिशिष्ट में देखी जा सकती है। वहाँ हमने 'अपनी बात' (पृ. IV-VII) में उन ११ बिन्दुओं की चर्चा की है, जिन पर हमारे संस्कृति-सम्बन्धी विचार केन्द्रित रहे हैं। विभिन्न संग्रह-ग्रन्थों के माध्यम से इन विचारों को प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में सर्वाधिक सहयोग शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के संस्थापक, जंगमवाड़ी मठ, ज्ञान-सिंहासन के अधिष्ठाता श्री १००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी का रहा है, जिन्होंने यहाँ की शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला में इनका प्रकाशन कराया। इनके प्रति हम भावसिक्त आभार प्रकट करते हैं।

जिन ११ मुख्य-बिन्दुओं की उक्त ग्रन्थ में चर्चा की गई है, उसके अन्त में हमने लिखा है कि **खंडहरों पर खड़ा होना सेमेटिक स्वभाव है, भारतीय नहीं।** हम समझते हैं कि भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना के बिना इन बिन्दुओं पर गंभीरता से विचार नहीं हो सकता। उसी ओर आगे बढ़ने के लिए यहाँ सन् २००१ से आज तक लिखित संस्कृत-हिन्दी निबन्धों का यह संग्रह प्रकाशित कराया जा रहा है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिकता जैसे शब्दों के प्रयोग पर गंभीरता से विचार किया जाय कि क्या वर्तमान समय में इनका सही प्रयोग हो रहा है। हमारी समझ में इस्लामी संस्कृति धर्म के

अनुचित हस्तक्षेप को कभी रोक नहीं सकी है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दुनिया में परस्पर विद्वेष के बीजों को पनपाने में ही अपनी सार्थकता समझता है। आजकल इनको ही प्रधान रूप से धर्मनिरपेक्ष माना जाता है और सर्वत्र भ्रातृभाव का प्रचारक भारतीय समुदाय साम्प्रदायिक कहा जाता है। क्या यह उचित है? **खंडहरों पर महल बनाने की प्रवृत्ति यहीं से पनपती है।**

आजकल का भारतीय बुद्धिजीवी भी इनको प्रगतिशील और सर्वत्र एक कुटुम्ब की भावना को उजागर करने वाले को सांप्रदायिक बतलाता है। हीन भावना से ग्रस्त भारतीय विचारक न मालूम क्यों शब्दों के इन अनुचित प्रयोगों के खिलाफ कुछ भी बोलने से कतराता रहता है। विदेशी भाषा में नारे लगाने वालों का ओर क्या हश्र हो सकता है?

राष्ट्रवाद की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय प्रजा हीन भावना से मुक्त होकर इस दुष्प्रचार का, मिथ्या आक्षेपों का परिहार करे और भारतीय संस्कृति सम्बन्धी सार्वभौम उच्च विचारों को पूरे विश्व में अविलंब मान्यता मिले, इसके लिए कमर कस ले। सर्वत्र सौहार्द और मेल-मिलाप की भावना के विस्तार के लिए यह अति आवश्यक है। तभी भावात्मक एकता को मान्यता मिल सकती है, "**विश्वं भवत्येकनीडम्**" इस वैदिक वाक्य को बल मिल सकता है। इसीलिए इस संग्रह के निबन्धों में वेद से लेकर सन्तों की वाणी तक के विशाल भारतीय साहित्य के उत्कृष्टतम तत्त्वों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। अब तक प्रकाशित सभी संग्रहों में हमने संक्षेप अथवा विस्तार से इन सभी बिन्दुओं पर विचार किया है और प्रायः सभी संग्रहों में विषयानुक्रमणी भी दी गई हैं। इनकी सहायता से विभिन्न विषयों पर समय-समय पर प्रकट किए गए हमारे विचारों को देखा जा सकता है। अब हम प्रस्तुत संग्रह की विषयवस्तु को संक्षेप में दे रहे हैं।

वैदिक औपनिषद ज्ञान-विज्ञान को तो पूरे विश्व की मान्यता मिली ही है, दीक्षा-पुरश्चरण आदि के प्रसंग में कर्मकाण्ड के अग्नि-समाराधन को भी सभी भारतीय धर्मों ने अपनी-अपनी पद्धति से स्वीकार किया है। इसका सप्रमाण उल्लेख यहाँ संगृहीत प्रथम संस्कृत निबन्ध में किया गया है। इसका प्रकाशन प्रथमतः सन् २००१ में रोम से डॉ. आर. न्योली के संमान में प्रकाशित ग्रन्थ में हुआ है। 'भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप' (पृ. ११-२६) में इसका राष्ट्रभाषा में अनूदित स्वरूप देखा जा सकता है। 'तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन' (पृ. ७९४-८०४) में जैन-तन्त्रों की समरस दृष्टि पर भी प्रकाश डाला गया है। यहाँ सप्रमाण यह स्थापित किया गया है कि प्रारंभिक बौद्ध दृष्टि वैदिक विचारों से बहुत दूर नहीं थी। 'स्वामी रामानन्दाचार्य की उदारदृष्टि' शीर्षक द्वितीय निबन्ध में कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक) की

पृष्ठभूमि में और पांचरात्र (वैष्णव) आगम की परम्परा में सन्त कबीर, रैदास आदि के गुरु स्वामी रामानन्दाचार्य की उदारदृष्टि का किस प्रकार विकास हुआ, इसका परिचय दिया गया है।

संख्या ३ से ९ तक के निबन्धों में सांस्कृतिक इतिहास की विसंगति, आतंकवाद, भगवाकरण, पाठ्यपुस्तकों का विवाद, भारतीयकरण, भारतीयता जैसे विषयों पर विचार किया गया है। आधुनिक इतिहासज्ञ! प्रमाणों के साथ कैसी छेड़-छाड़ करते हैं, इसको यहाँ (पृ. ३२-३४) देखा जा सकता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के अभाव में भारत की अधिसंख्य जनता अपनी सरलता के कारण कैसे पिस रही है, इस पर भी विचार किया गया है। इसके ताजा उदाहरण के रूप में गुजरात को प्रस्तुत किया जा सकता है। इंदिरा गांधी की असामयिक मृत्यु के बाद सिक्ख समुदाय के साथ यहाँ क्या किया गया? इस पर बिना ध्यान दिए आज का तथाकथित मानवतावादी समुदाय जो कर रहा है, वह एक प्रकार का मानवाधिकारों का उपहास ही है। हमारे मत से संस्कृत भाषा के ज्ञान के अभाव में मानवतावाद एक कल्पनामात्र है। समग्र भारतीयता, भावात्मक एकता एवं समरस दृष्टि का उन्मीलन संस्कृत भाषा के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता।

निश्छल मानवतावाद के विकास के लिए तो भारतीय योगशास्त्र तथा तन्त्रागमशास्त्र का सामान्य ज्ञान भी अपेक्षित है। इसके लिए यहाँ के १०वें निबन्ध में कश्मीरी योगशास्त्र के महनीय ग्रन्थ मालिनीमत की पृष्ठभूमि में विकसित भारतीय योगशास्त्र की सरल पद्धति पर तथा ११वें निबन्ध में आगमशास्त्र की विशालता और प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। १२वें निबन्ध में 'आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि' की समीक्षा विशेष उद्देश्य से की गई थी। वह सार्थक न हो सकी। इसकी चर्चा 'भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप' (अपनी बात, पृ० XII) में की गई थी। उसका प्रकाशन अब यहाँ किया गया है। आधुनिक समाजवाद की सामाजिक दृष्टि की अपेक्षा भारतीय शास्त्रों में इसका कितना सही विवेचन हुआ है, इसको यहाँ देखा जा सकता है। देश के दुर्भाग्य से आधुनिक भारतीय विचारकों का ध्यान इस ओर नहीं गया है।

यहाँ के प्रथम संस्कृत निबन्ध में शाक्त तन्त्रों के प्रसंग में काल, मृत्यु, यम आदि शब्दों की चर्चा आई है। १३वें निबन्ध में इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में कठोपनिषद् की पृष्ठभूमि में मृत्यु के नाना प्रकारों की चर्चा की गई है। १४वें निबन्ध में समग्र भारतीयता की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की व्याख्या प्रस्तुत की गई है और इसी के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ को '**सांस्कृतिक राष्ट्रवाद**' यह नाम दिया गया है। 'साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति' शीर्षक १५वें निबन्ध में इन विषयों पर विचार किया गया है और अगले निबन्ध में ग्रन्थसमीक्षा के प्रसंग में सभ्यता, संस्कृति और समाजवाद पर प्रस्तुत अनेक विद्वानों के विचारों की समीक्षा

की गई है। इस समीक्षा को हमारे 'एक विश्व : एक संस्कृति' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में देखा जा सकता है।

भगवाकरण शब्द में निहित कुटिलता को उजागर करने के लिए हमने १७वें निबन्ध में विशाल भारतीय वाङ्मय के कालिक पर्यवेक्षण का लघु प्रयास किया है और अगले निबन्ध में एक प्रकार से उपसंहार के रूप में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना के लिए सन्तों की शरण में जाने का सुझाव दिया है। ''**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**'' इस वाक्य को यहाँ वरीयता दी गई है।

अपने हिन्दी और संस्कृत निबन्धों की एक लम्बी सूची हमने यहाँ परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत की है। अभी दो-एक शताब्दी पहले काशी के एक विद्वान् ने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके इन यथोपलब्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय यहाँ के अन्तिम संस्कृत निबन्ध में दिया गया है। इनके ९७ ग्रन्थों की विस्तृत विवेचना 'सारस्वती सुषमा' के 'पण्डितराज श्री राजेश्वरशास्त्रिद्रविडस्मृतिविशेषांक' (व. ५५, अ. १-४, पृ. ४०१-४४०) में देखी जा सकती है। विद्वान् लेखक ने कौल तन्त्रों के माध्यम से भारतीय समाज में प्रविष्ट कुछ विसंगतियों के परिहार के लिए और आचार्य शंकर के द्वारा प्रतिपादित समयी मत की प्रतिष्ठा के लिए स्तुत्य प्रयास किया है। 'तन्त्रयात्रा' (पृ. ४१-४९) में प्रकाशित 'श्रीविद्यायाः समयिसम्प्रदायः' शीर्षक निबन्ध में हमने भी इस मत का संक्षिप्त परिचय दिया है।

संस्कृत भाषा के लेखकों के प्रति आजकल के उपेक्षाभाव से हम परिचित हैं। प्रारम्भ से ही हमारे लेखन के दो पक्ष रहे हैं—एक तो शास्त्रीय और दूसरा सांस्कृतिक। हमारे शास्त्रीय लेखन के प्रति पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त आदरभाव प्रकट किया। यह लेखन प्रधानतः संस्कृत भाषा के माध्यम से हुआ था। उनके द्वारा प्रकट किए गए विचारों को हमने यत्र तत्र प्रकाशित भी कराया है। इसके विपरीत हिन्दी भाषा के माध्यम से लिखित सांस्कृतिक लेखन को वह समादर नहीं मिला। तो भी हमने इस कार्य को पूरे आत्मविश्वास के साथ सम्पन्न किया है। इस कार्य को करने में हमें जिन मनीषियों की रचनाओं से प्रेरणा मिली, उनकी चर्चा हम अनेक स्थलों पर कर चुके हैं। महामनीषी श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी की प्रेरणा से हमने इस सांस्कृतिक अनुशीलन के आधार के रूप में आगम-तन्त्रशास्त्र को प्रधान रूप से स्वीकार किया है। यह एक पूरी तरह से सही निर्णय रहा है। हमारा निश्चित मत है कि आज इस उपेक्षित वाङ्मय के आधार पर विकसित सन्त साहित्य ही इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना में समर्थ हो सकता है।

पूरी दृढ़ता के साथ हम इस बात का प्रतिवाद करते हैं कि हिन्दुत्व के नाम पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को बलि की वेदी पर चढ़ा दिया जाय। घुमा-फिरा कर कुछ कहने

की अपेक्षा हम स्पष्ट रूप से यह बता देना चाहते हैं कि मुसलमान आज धर्म के बन्धनों से सर्वाधिक जकड़ा हुआ मानव-समुदाय है। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों के सम्बन्ध में हमारी यह उक्ति अधिक सार्थक है। धर्म को अफीम मानने वाला समुदाय आज इसको अपने साथ रख कर धर्मनिरपेक्ष बन बैठा है, यह एक विडम्बना ही है। ये दोनों मिलकर भगवाकरण के नाम पर हिन्दुत्व को नष्ट कर देना चाहते हैं। कुछ लोग आयातित बौद्ध धर्म के आधार पर भी इस दुरभिसन्धि में लगे हुए हैं। हम यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहते हैं कि देश का विभाजन करा देने वाली लीगी मानसिकता की अपेक्षा इस देश के लिए हिन्दुत्व अधिक श्रेयस्कर इसलिए है कि इसमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पनपने की अधिक गुंजाइश है।

मुस्लिमलीगियों को साथ में लेकर चलने वालों को हम धर्मनिरपेक्ष कहें, इससे बढ़कर विडम्बना दूसरी क्या हो सकती है? यह तो स्पष्ट ही असत्य को मान्यता देना है। "**सत्यमेव जयते**" यह राष्ट्र का आदर्श वाक्य है। इस राष्ट्र की प्रकृति के अनुसार असत्य बहुत दिनों तक टिका नहीं रह सकता। भारत आज अपने सही स्वरूप को पहिचानने में असमर्थ-सा हो रहा है। अपसंस्कृतियों के धुआँधार प्रचार के आगे वह अपने सही स्वरूप को भुला बैठा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को सही तरीके से प्रस्तुत किया जाय। तभी हीन भावना से ग्रस्त भारतीय समाज में आत्मविश्वास सही रूप में पनपेगा, तभी इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की निरापद स्थापना हो सकेगी तथा धर्म के नहीं, बल्कि राष्ट्रीयता के आधार पर हम सब भारतीय हो सकेंगे। सांस्कृतिक आधार पर विकसित मानसिकता वाला व्यक्ति कोई भी हो, उसे हम राष्ट्र के वरिष्ठतम पद पर बैठाने में कोई संकोच नहीं करते। इस प्रवृत्ति का जब अधिकाधिक विकास होगा, तो यह देश पूरी तरह से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की महक से गमक उठेगा।

कुछ लोग उर्स के मेलों के जैसे अवसरों पर जुटने वाली भीड़ को साम्प्रदायिक सौहार्द के प्रतीक के रूप में पेश करने में अपना पराक्रम दिखाना चाहते हैं, किन्तु ऐसा प्रचार करने वालों को यह समझ होना चाहिए कि यह हिन्दू जनता की संस्कारगत प्रवृत्ति है, हिन्दू लोकधर्म का यही स्वभाव है। इस्लाम धर्म अन्य धर्मों के देवी-देवताओं के पूजने के विरुद्ध है। सामंजस्य और समन्वय की प्रवृत्ति हिन्दुत्व की विशेषता है। यह देश का दुर्भाग्य है कि हिन्दुत्व के खिलाफ मिथ्या प्रचार करने वालों के आगोश में भोलीभाली भारतीय प्रजा आती जा रही है और ये उसको बरगलाने में कामयाब होते जा रहे हैं। इस घिनौने घेरे से हमें समस्त भारतीय प्रजा को बाहर निकालना होगा। "**असतो मा सद् गमय**" इस वैदिक प्रार्थना का अनुसरण करते हुए हमें असत् के अन्धकार को दूर करना होगा।

साथ ही भारतीय प्रजा को हम यह भी बता देना चाहते हैं कि हिन्दुत्व आज राष्ट्र को जोड़ नहीं सकता। जैसा कि हमने अनेक स्थलों पर कहा है, हिन्दू और मुसलमान आज बौद्धकालीन श्रमण-ब्राह्मण जैसी परस्परविरोधी भावनाओं से ग्रस्त हो गए हैं। सूफी सन्तों के उपदेश दुनिया को इस्लाम की एक बड़ी देन है, किन्तु जहाँ इसके माध्यम से इस्लाम ने राजनीतिक लाभ लेना शुरू कर दिया, उसकी सही समीक्षा तो करनी ही पड़ेगी। बार-बार धोखा खाना और देना, ये दोनों ही पक्ष मानवता की कोई सही सेवा नहीं कर सकते।

अपने लेखन में सुधारवादी आन्दोलन की चर्चा के प्रसंग में हम बता चुके हैं कि कहीं-कहीं यह भटक गया है। वेद, वेदान्त और बौद्ध धर्म के प्रसंग में इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है। विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित तन्त्रागमशास्त्र, पुराणेतिहास और सन्तों के विशाल साहित्य के कारण वैदिक दृष्टिकोण में पर्याप्त सुधार हुआ है, किन्तु यहाँ उसकी पूरी तरह से उपेक्षा कर दी गई है। फलस्वरूप वैदिक वर्णव्यवस्था, अवैदिक मतों का अप्रामाण्य और श्रमण-ब्राह्मण विवाद जैसे कालातीत विषयों को पुनः जिला दिया गया है, हिन्दुत्व आज अपनी इस संकुचित दृष्टि के कारण बदनाम-सा हो गया है। 'आगम साहित्य और उसका प्रामाण्य', 'आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि', 'भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण' जैसे इस संग्रह के निबन्धों में हमने हिन्दुत्व के सार्वभौम स्वरूप को उजागर किया है। उसके आधार पर भगवाकरण, ब्राह्मणवाद-मनुवाद, मंडल-कमंडल जैसे आरोपित शब्दों का कोई प्रभाव आज बचा नहीं है। हिन्दुत्व के इस उदारतम स्वरूप को पूरे विश्व के सामने उजागर करने की आवश्यकता है। तभी भारतीय प्रजा इन मिथ्या आक्षेपों से अपने को मुक्त कर सकेगी और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से ओतप्रोत हो सकेगी। विदेशी भाषा के माध्यम से नए-नए नारे गढ़ने से यह काम होने वाला नहीं है।

हिन्दू और मुसलमान की परस्परविरोधी मानसिकता की हमने ऊपर चर्चा की है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का दूसरा विरोधी तत्त्व है धर्मान्तरण। सेमेटिक धर्मों का यह एक दुराग्रह है कि इनके अपने घेरे में आए बिना व्यक्ति मुक्ति नहीं पा सकता। दुनिया में सुख-शान्ति की स्थापना के लिए सेमेटिक धर्मों को अपना यह आग्रह छोड़ना होगा। 'पुराणानां नूनमागममूलकत्वम्' शीर्षक संस्कृत निबन्ध में **आगम** की परिभाषा पर विचार करते हुए हमने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने इष्टदेव की उपासना अपनी पद्धति से करे, इसका उसे पूरा अधिकार है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दूसरों की उपासना में उसे कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस निबन्ध के आगमशास्त्र को परिभाषित करने वाले कुछ अंश अत्यन्त मननीय हैं। वहाँ उद्धृत किए गए वराहमिहिर आदि के वचन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना में बहुत सहायक हो सकते हैं। इस पर

पूरी भारतीय प्रजा को गंभीरता से विचार करना चाहिए। आप अपने इष्टदेव की अपनी धार्मिक पद्धति से उपासना करने में स्वतन्त्र हैं, किन्तु दूसरा भी आपके इष्टदेव को अपना इष्टदेव माने और इसके लिए उसका धर्मान्तरण किया जाय, इस तरह के धार्मिक आग्रह ही राजनीति में तानाशाही पनपाने में सहायक होते हैं। क्या प्रबुद्ध मानव अनन्त काल तक इस धार्मिक मानसिकता को पाले रखेगा और धर्मनिरपेक्षता के दंभ को भी भरता रहेगा? धर्मान्तरण की मानसिकता के रहते सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना हो ही नहीं सकती।

निगमागम का विवेचन करते समय आगम की परिभाषा की ऊपर चर्चा की गई है। 'एक विश्व : एक संस्कृति' (पृ. ९८-९९) नाम की पुस्तक में इसको विस्तार से देखा जा सकता है। वहाँ बताया गया है कि समस्त जागतिक ज्ञान, पुरातन व्यवहार और प्रसिद्धि **आगम** के नाम से जाने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सभी आगम (शास्त्र) अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस पद्धति से हम सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि शास्त्रों का ही नहीं, दुनिया के सभी धर्मों के बाइबिल, कुरान जैसे पवित्र ग्रन्थों का भी आगमशास्त्र में समावेश कर सकते हैं।

इस पूरे प्रकरण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज इस दुनिया में वर्तमान सभी धर्मों के आकर-ग्रन्थों का निगमागमशास्त्र में समावेश किया जा सकता है, क्योंकि इन सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया था। अत: इनकी आप्तता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार भारत का यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद सर्वत्र समन्वय स्थापित करने में सदा उद्यत रहता है। इसके विपरीत यह देखने को मिलता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद सर्वत्र विग्रह को पनपाने में लगा हुआ है। भारत में फैला नक्सलवाद उसी का एक निम्न स्तर का स्वरूप है। इस्लाम उन विश्वासों और व्यवहारों को मान्यता नहीं देता, जो परम्परा से चले आ रहे हैं और इस्लाम की भावना के विरुद्ध हैं। यही स्थिति ईसाई धर्म की भी है। सेमेटिक धर्मों के इस दुराग्रह के साथ मिलकर यह दुनिया की सुख-शान्ति को पूरी तरह से न छीन ले, उससे पहले की मानवता के पुजारियों को सावधान हो जाना चाहिए। सांस्कृतिक समझदारी का विकास हुए बिना उनको ऐसा करने से रोका नहीं जा सकेगा।

जैसा कि अभी बताया गया, लीगी मानसिकता को साथ लेकर चलने वाले मार्क्सवादी और इनके अन्य सहयोगी हिन्दुत्व पर साम्प्रदायिकता का आरोप मढ़ते हैं। ये भगवाकरण, ब्राह्मणवाद, मनुवाद, मंडल-कमंडल, अवर्ण-सवर्ण, अगड़ा-पिछड़ा आदि के घेरों में इसे सीमित कर दुनिया से उसको उखाड़-फेंकना और अपने लिए

धर्मनिरपेक्षता का झंडा फहराना चाहते हैं। हिन्दुत्ववादी इसका कोई प्रतिवाद नहीं करते, सही जवाब नहीं देते। वस्तुत: देखा जाय तो मुस्लिम मानसिकता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कभी धर्मनिरपेक्ष हो ही नहीं सकती। जम्मू-कश्मीर की समस्या को ही लें। आज कश्मीर घाटी से हिन्दुओं का सफाया कर दिया गया और हिन्दु-बहुल जम्मू की एवं बौद्ध-बहुल लद्दाख की जनसंख्या में तीव्र गति से परिवर्तन किया जा रहा है। क्या यही धर्मनिरपेक्षता है ? वर्तमान में हिन्दुओं से बढ़कर धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) कोई समुदाय है ही नहीं, इस बात को दुनिया के सामने प्रबल युक्तियों के सहारे स्थापित करना चाहिए था, किन्तु हमने तो इस सम्बन्ध में मौन साध रखा है और अपने ऊपर थोपे जा रहे आक्षेपों की अनसुनी-सी करते जा रहे हैं।

यह एक घातक मनोवृत्ति है। हिन्दुत्व को जितना जल्दी हो सके इस तरह की मानसिकता से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को स्वीकार करने पर ही यह संभव हो सकता है, भगवाकरण का प्रलाप तभी शान्त हो सकता है और पूरी भारतीय प्रजा तभी भारतीयकरण की प्रक्रिया से ओतप्रोत हो सकती है। भारतीयता का अनुगमन न करने वाला कभी धर्मनिरपेक्ष बन ही नहीं सकता। साथ ही हिन्दुत्ववादियों को भी विदेशी भाषा में गढ़े गए शब्दों से यथाशीघ्र छुटकारा पा लेना चाहिए और इस प्राचीनतम देश को नष्ट होने से बचाने के लिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर मानव मन को उदारतम बनाने के प्रयास में लग जाना चाहिए। तभी सर्वत्र राग-द्वेष को बढ़ाने वाले नारों से यह देश मुक्त हो सकेगा। आज तो जनतन्त्र में पक्ष-विपक्ष के स्थान पर शत्रुभाव को बढ़ावा देने वाले दल प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष कहलाते हैं। इसका प्रतिवाद होना चाहिए। शब्दों का यह खेल बन्द होना चाहिए। हिन्दुत्व को साम्प्रदायिकता से और मुस्लिमलीगी मानसिकता को धर्मनिरपेक्षता से जोड़ना आज के भारत की एक विडम्बना है। उससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि इन मिथ्या आक्षेपों का शिकार समुदाय प्रतिवाद में कुछ बोल नहीं पाता। ऐसा लगता है कि हीन भावना के कारण अपने ऊपर लगाये गये इन आक्षेपों को वह सही मान बैठा है।

"**त्रयो वेदस्य कर्तारः**" जैसे वेदों का मजाक उड़ाने वाले वाक्यों को देवगुरु बृहस्पति की उक्ति मान कर अपने पाठ्यक्रम में आज भी जहाँ उनका समावेश किया जा रहा है और वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध करने वाले बुद्ध एवं महावीर जहाँ भगवान् कहलाते हैं, वह वर्ग आज सांप्रदायिक कहलाता है। इसके विपरीत शाहबानों से संबद्ध न्यायालय के निर्णय को बदल देने वालों, सलमान रुश्दी के खिलाफ मौत का फतवा निकालने एवं उनकी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाने वालों और तसलीमा नुसरीन को देशनिकाला देने वालों को धर्मनिरपेक्ष माना जाता है। इक्कीसवीं सदी में प्रविष्ट मानव

कश्मीरी पंडितों के पूर्वजों की धरोवर, हस्तलिखित ग्रन्थों को जला दे रहा है, काबुल के समृद्ध संग्रहालय को उजाड़ दिया गया है और वामियान की बुद्धमूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए हैं। यह सब क्या है?

भारतीय संस्कृति में संप्रदाय एक पवित्र शब्द माना जाता है। गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान सांप्रदायिक कहलाता है। इसी तरह से चार पुरुषार्थों में धर्म का प्रमुख स्थान है। अर्थ और काम इसी से नियन्त्रित होते हैं। आज अर्थ और काम में आकण्ठ डूबे राजनेता एवं उनके पिछलग्गू तथाकथित बुद्धिजीवी भारतीय प्रजा को असाम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष बनने का उपदेश देकर उसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से दूर रखना चाहते हैं। ये भारतीय संस्कृति को नष्ट करने में लगे हुए हैं। भारतीय प्रजा को हीन भावना का त्याग कर भारतीय संस्कृति पर आरोपित आक्षेपों का समय रहते सही समाधान प्रस्तुत करना चाहिए। इसके लिए हमारे लेखन में उनको पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

हमें याद रखना है कि प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक सुकरात को जहर पिलाया गया था। स्वयं ईसामसीह को शूली पर चढ़ा दिया गया था। ताजिया निकालने के अवसर पर बलिदानी हसन-हुसेन को प्रतिवर्ष याद करने वाले शिया-सुन्नी मुसलमान आज भी आपस में भाईचारा नहीं बना पाये हैं। आज के कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रवर्तकों ने अपने ही सहयोगी की हथौड़े से सिर फोड़ कर जघन्य हत्या कर दी थी। क्या ये हिन्दुत्व को कोई शिक्षा दे सकते हैं? औरंगजेब की जगह दाराशिकोह यदि भारत का शासक बना होता, तो भारत की यह दुर्दशा न हुई होती।

एक और दुष्प्रवृत्ति इधर काम कर रही है। जब भी अपराधी राजनीतिज्ञों की चर्चा चलती है, तो उनके समर्थक बाबरी ढाँचे के ढहाए जाने की चर्चा अवश्य करते हैं। इस घटना के घटित होने के दूसरे ही दिन हमने 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण अपेक्षित' शीर्षक से अपने विचार प्रकट किए थे। यह लेख अब 'भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप' (पृ. ८३-८७) में प्रकाशित हो चुका है। सन् १९४२ ई० के राजनीतिक आन्दोलन के अवसर पर जनता द्वारा की गई तोड़-फोड़ की बाबत जेल से छूटने पर कांग्रेसी नेताओं ने जो कुछ कहा था, उसकी हमने वहाँ चर्चा की है। उसके अनुसार यह घटना सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलन से जुड़ी हुई है। इस पवित्र कार्य से जुड़े व्यक्तियों की अपराधियों से तुलना करने वालों की मानसिकता पर हमें तरस खाना चाहिए।

हम जानते हैं कि अंकविज्ञान (हिन्दस्का) विश्व को भारत की देन है। जाने-अनजाने इसमें भी विकृति पैदा करने की कोशिशें की जा रही हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इसमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के समर्थक भी अपना योगदान कर रहे हैं। ऐसे ही लोगों ने सन् २००० में ही इक्कीसवीं सदी का आरम्भ मान लिया था। इसका प्रतिवाद करते हुए हमने बताया था कि सन् २००१ से इक्कीसवीं सदी प्रारम्भ होगी,

सन् २००० तक को बीसवीं शताब्दी ही चालू रहेगी। कृपया इन अंकों को आप सावधानी से देखिए। दसगुणित संख्या के प्रतीक बिन्दु के लगने से दस से लेकर महापद्म पर्यन्त संख्या का विधान शास्त्रों में है। करोड़ तक जाकर यह रुक नहीं जाता कि दस लाख करोड़ जैसे शब्दों का प्रयोग करना पड़े। इसी तरह से ६० का दशक, ९० का दशक जैसे प्रयोग भी सही नहीं माने जा सकते। एक से नौ तक नहीं, दस तक, सौ तक, हजार तक गिनती चलती है। इसलिए दस से उन्नीस, बीस से उन्तीस आदि का क्रम गलत है। देशी भाषा के पत्रकारों को इस तरह के प्रयोगों से बचना चाहिए और भारतीय पंचांग को हिन्दू पंचांग कहने से भी। हमें छठा दशक, नवाँ दशक जैसे शब्दों को ही प्रयोग में लाना चाहिए। हमें यह याद रखना है कि *संस्कृति अनुपयोगी पुरातनता का ही परित्याग करती है, सार्वभौम शाश्वत सिद्धान्तों का नहीं।*

हममें से बहुत कम लोग ही यह बता पावेंगे कि बाबरी ढांचे के ढहाये जाने की तिथि क्या थी? खाली अंग्रेजी तारीख हमें याद है। 'बर्थ डे' भी आज अंग्रेजी तारीख के हिसाब से ही मोमबत्तियों को बुझा कर मनाया जाता है। दीपक का बुझ जाना भारत में अमंगल का सूचक माना जाता है। अब तो '**कल्याण**' जैसी धार्मिक पत्रिका में भी '**श्राद्ध**' जैसे सांस्कृतिक कार्य भारतीय तिथि से नहीं, अंग्रेजी तारीख के हिसाब से मनाने की परोक्ष प्रेरणा दी जा रही है। सुविधा के नाम से भारत का धार्मिक ही नहीं, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी किस तरह से पतन की ओर बढ़ रहा है, यह एक इसका अच्छा उदाहरण है। इससे हमें बचना होगा। यह ध्यान में रखना है कि पूरी भारतीय प्रजा में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रसार होने पर भारत में कुकुरमुत्तों की तरह फैल रहे अनेक राजनीतिक दल अपने आप विलीन हो जायेंगे।

इस प्रस्तावना को सावधानी से पढ़ कर सुहृत्प्रवर प्रो० सत्यप्रकाश मित्तल जी ने परिष्कृत किया है और उपयोगी सुझाव दिए हैं। हम उनके प्रति आभारी हैं।

बुढ़ापे में बीमारियों से घिरे हमारे लिए किसी सहृदय शायर के ये वचन प्रेरणास्रोत रहे हैं—"दर्द की बारिश ही सही। मत थम। आहिस्ता चल।" बस इतना ही—

व्रजवल्लभ द्विवेदी

●●●

विषय सूची

●●●

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

अर्थात्

समग्र भारतीयता

तन्त्रेषु वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभावः

उपक्रमः

[1]"आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षके मराठीभाषानिबद्धे निबन्धे संहिता-आगम-तन्त्रशब्द-व्याख्यानावसरे साधितमस्माभिर्यदेते सर्वे शब्दास्तन्त्रशास्त्रेषु पर्यायतया प्रयुज्यन्त इति। अधुनैवास्माभिस्त्रिलोचनशिवाचार्यस्य सिद्धसारावलिनामको ग्रन्थोऽनन्तशम्भुकृत-संस्कृतटीका-साहाय्येन हिन्दीभाषायामनूद्य विस्तृतप्रस्तावनापुरस्सरं शैवभारतीशोध-प्रतिष्ठानतः प्रकाशितः। तेन तन्त्रागमेषु वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभाव इति विषयस्यैव न, प्रत्युत शैवागमेषु[2] संहिता-आगम-तन्त्रशब्दाः पर्यायतया प्रयुज्यन्त इत्यस्मदीयस्य मन्तव्यस्यापि पुष्टिर्भवति। तदनुरूपं निबन्धेऽस्मिन् वैष्णवसंहिता-शैवागम-शाक्त-बौद्धतन्त्राणां च कृते केवलं तन्त्रशब्द एव प्रयुक्तः। आगमशब्दोऽप्यत्र तस्मिन्नेवार्थे प्रयुक्त इति मन्तव्यम्।

निगम(वेद)-आगम(तन्त्र)शास्त्रे, विशेषतो वैदिक-श्रमण(बौद्ध-जैन)शास्त्रे परस्परविपरीतां दृष्टिं धारयत इति मन्यते। वेदास्त्रैवर्णिकविषया आगमाश्च सर्ववर्णविषया इति तस्य तात्पर्यमवसीयते। वेदा ब्राह्मणानां तदितराणि बौद्ध-जैनादीनां शास्त्राणि च श्रमणानां परम्परामुपजीवन्ति। अनयोः शाश्वतिको[3] विरोध इति प्रायोवादः प्रचलति। अत्र विहाय जैनतन्त्राणि शैव-शाक्त-वैष्णव-बौद्धतन्त्रेषु कीदृशो वर्तते नाम वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभाव इति विषयोऽयं प्रतन्यते। सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयीयस्य विश्वविश्रुतस्य सरस्वतीभवनाख्यस्य ग्रन्थालयस्याध्यक्षचर-स्वर्गीय-पण्डितश्रीविभूतिभूषणभट्टाचार्यस्य[4]

---

१. पुण्यपत्तनस्थवेदशास्त्रोत्तेजकसभया १९७८ ई० वर्षे प्रकाशिते ग्रन्थे "प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन" इत्याख्यो निबन्धो द्रष्टव्यः (पृ० १८१-१९६)।

२. सिद्धान्तशैवागमानां कृते सिद्धान्तसारावलिटीकायामृद्धृते कारणागमे—"किरणं वातुलं चैतास्त्वष्टाविंशतिसंहिताः" (पृ० २८३) इत्यत्र संहितापदम्, "प्रोद्गीताद्यष्टतन्त्राणि" (पृ० २८४) इत्यत्र च तन्त्रपदं प्रयुक्तम्। "तन्त्रेऽस्मिन् पारमेश्वरे" (१६.२०) इति मतङ्गपारमेश्वरवचने च स्वात्मार्थं तन्त्रपदं प्रयुक्तम्।

३. "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" (२.४.९) इत्यस्योदाहरणे "श्रमणब्राह्मणम्" इति प्रयोगो दृश्यते। पाणिनिसूत्रमेतत्, न कात्यायनवार्त्तिकमिति प्रथमममवधेयम्। अपि च, पातञ्जलमहाभाष्ये, काशिकावृत्तौ, सिद्धान्तकौमुद्यां वा नोदाहरणमेतद् वर्तते। केन वैयाकरणेन प्रदत्तमेतदिदम्प्रथमतयेत्यन्वेषणीयम्। काशिकावृत्तिपदमञ्जरीव्याख्यायां साम्प्रतमेतदुपलभ्यते।

४. श्रीविभूतिभूषणभट्टाचार्यः काशिकवंगीयविद्वत्कुलपरम्परायां स्वीयं विशिष्टं स्थानं बिभर्ति स्म। न्यायविद्याऽऽनुवंशिकरूपेण तेन लब्धा। संस्कृतभाषागीतलेखकः, संस्कृतनाट्यपरम्परासंरक्षकः, अभिनयप्रवीणश्च स दर्शकान् हठादावर्जयति स्म। प्राच्यपाश्चात्त्यगणितशास्त्रे संगीतशास्त्रे च प्रवीण एष महानुभावस्तादृशं वाद्ययन्त्रं निर्मितवान्, यत्र भारतीयसंगीतशास्त्रे निर्दिष्टा द्वाविंशतिप्रकाराः श्रुतयः पृथक्तया परिचीयन्ते स्म। समाजेन योग्यतानुरूपं तस्मै संमाननं नैवार्पितमिति शोचनीयोऽयं विषयोऽस्माभिः "प्रादेशिकतापिशाचीग्रस्ता प्राच्यवाणी" इति शीर्षके निबन्धे चर्चितः। दौर्भाग्यात् संस्कृतसमाजस्य नेतृत्वमाधुनिकभारतीयराजनीतिज्ञसहोदराणां पण्डितब्रुवां हस्ते पतितम्।

मन्तव्यमिदमासीद् यत् साम्प्रतं वैदिके बौद्धे च धर्मे या विपरीता दृष्टयो व्याख्यायन्ते, ता वस्तुतः पालिवाङ्मये स्वल्पा एव दृग्गोचरीभवन्ति, प्रत्युत नैकेषु स्थलेषु छान्दस्कानां प्रशंसापराणि वचनानि श्रूयन्ते। दिवंगताः पण्डितश्रीलक्ष्मणशास्त्रिजोशीमहोदया अपि प्रारम्भिके बौद्धदर्शने औपनिषद-सांख्य-योग-दर्शनानां स्पष्टं प्रभावं विवेचयन्त आसन्। विषयेऽस्मिन् तज्ज्ञा ऐतिहासिका एव प्रमाणमिति परित्यज्य तं तन्त्रागमविषय एवात्र चर्च्यते।

वैष्णवतन्त्रेषु वैखानसशाखा, शैवतन्त्रेषु सिद्धान्तशाखा च वैदिक्या वर्णव्यवस्थया साम्यमिव धत्ते। गौतमधर्मशास्त्रस्य (स्मृतेः) अष्टमेऽध्याये वर्णितेष्वष्टचत्वारिंशत्संख्याकेषु [५]संस्कारेष्वेकविंशतिसंस्काराः सार्वात्म्येन श्रौतसूत्रादिषु वर्णितान् सप्तपाकसंस्था-सप्तहविः-संस्था-सप्तसोमसंस्थाख्यान् संस्कारानेव समनुसरन्ति। एतेषां संस्काराणां शैवशाक्ततन्त्रेष्विव पुराणेष्वपि समुल्लेखो विद्यते। दीक्षा-पुरश्चरण-षट्कर्मसाधनेषु सर्वत्र होमोऽनिवार्यतया संपाद्यते। वीरशैवमतानुयायिनो बौद्धमतावलम्बिनश्च केचन मन्यन्ते यदीदृशानां त्रैवर्णिक-विषयाणां होमाद्यग्निकार्याणां समावेशस्तत्र तत्र नास्तीति। भ्रान्तेरस्याः परिहाराय किमप्यत्र प्रयत्यते।

सर्वप्रथमस्माभिरवधेयमेतद् यद् बुद्धमहावीराभ्यां वैदिक्या हिंसाया विरोधः कृतः, न सम्पूर्णस्य कर्मकाण्डस्य। वैदिककर्मकाण्डस्य निःसारता उपनिषत्सु, सांख्यदर्शने, भगवद्गीतासु च यत्र-तत्र प्रदर्श्यते। भगवता शङ्कराचार्येणापि चित्तशुद्ध्यर्थमेव कर्मणामुपयोगोऽङ्गीकृतः, ज्ञानमेव प्रधानं मोक्षसाधनमिति ते मन्वते, तथापि शङ्करपूर्ववर्तिनः परवर्तिनश्च बहव आचार्या ज्ञानकर्मसमुच्चयवादमङ्गीकुर्वन्ति। वैष्णवतन्त्रेषु श्रीमद्भागवतादिषु वैष्णवपुराणेषु च कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनत्वं स्वीक्रियते। इदमेव तत्कारणं यदागमतन्त्रशास्त्रस्य विभिन्नासु शाखासु दीक्षादिप्रसङ्गेषु [६]वैश्वानराराधनं वैदिकपद्धत्यैव समाचर्यते।

त्रिलोचनशिवाचार्यस्य सिद्धान्तसारावलिनामको ग्रन्थोऽधुनैव चर्चितः। टीकाकारः सूचयति यच्चोलदेशाद् गङ्गास्नानार्थमागतेन नृपतिना [७]राजेन्द्रचोलेन केचन शैवाचार्यवरा इतो

---

५. अष्टचत्वारिंशत्संख्याकानां संस्काराणामेषां परिचयस्तन्त्रसारेऽभिनवगुप्तकृते (पृ. १४८-१५४) टिप्पण्यां विस्तरेण प्रदत्तः।

६. विमलप्रभायाम् (भा. २, पृ. ७५) अग्निपदस्थाने वैश्वानरशब्दः प्रयुक्तः। क्वचन लोकभाषासु बिसाँदरशब्दः प्रयुज्यते।

७. ''राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूमौ महीमवन्। गङ्गास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैववरांस्तदा॥ स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः सन् तान् समादाय शैवकान्। स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्ततः॥ काञ्चीमध्ये चोलभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तरान्॥'' सार्धश्लोकद्वयमेतत् ''हिस्ट्री आफ शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया'' (पृ. ३८, टि. २) इत्यस्य ग्रन्थस्य लेखकेन डॉ. वी. एस. पाठकमहोदयेन सिद्धान्तसारावलिनाम्ना समुद्धृतम्। सिद्धान्तसारावलिटीकास्थ(पृ० २५८)मेतदिति विभावनीयम्। डॉ० पाठकेन येन स्रोतसा टिप्पणी रचिता, तत्रापि टीकाया एवोल्लेखो वर्तते, न मूलग्रन्थस्य।

नीताः, काञ्चीमध्ये चोलभूमौ च ते स्थापिताः। तेष्वेव शैवाचार्येष्वासीत् त्रिलोचनशिवाचार्योऽपि। वाराणसीमधिवसता तेन कश्चन ग्रन्थो निबद्ध आसीत्। एतादृशानां शैवाचार्याणां मध्यदेशनिवासिनामङ्गुलिगण्या एव ग्रन्था अधुनावधि प्रकाशिता इति न तद्विषये वक्तुं किमपि शक्यते, किन्तु षष्ठशताब्दीतो द्वादशशताब्दीपर्यन्तं राजगुरूणामेषां शैवाचार्याणां शिलाशासनादिषु वर्ण्यते महद् वैशिष्ट्यम्। त्रिलोचनशिवाचार्यस्यास्मिन् ग्रन्थे दीक्षाप्रकरणेऽग्निकार्यविधीनां विस्तरेण वर्णनं विद्यते, व्याख्याताश्च नैके विषयाष्टीकाकारेण ग्रन्थान्तरप्रामाण्येनेति प्रथमतस्तदनुसारमेवात्र प्रधानाः केचन विषयाः कुण्डमण्डपादिनिर्माणसंबद्धाः प्रस्तूयन्ते।

शैवागमेषु

एते सर्वे विषयास्तेनात्र क्रियापादे २६-२९, ३३-४२ श्लोकेषु वर्णिताः। प्रथमस्तेन १३७-१४७ पृष्ठेषु दीक्षाप्रसङ्गे समर्प्यमाणानामाहुतीनां पद्धतिं प्रदर्श्य कुण्डसंस्कारादीनां विधयो वर्णिताः। टीकाकारोऽत्र सर्वप्रथमं नेमि-नाभिप्रभृतीनां कुण्डावयवानां निर्माणपद्धतिं प्रदर्श्य कुण्डस्य निरीक्षण-प्रोक्षणादीनष्टादशसंस्कारान् निरूपयति। केचनाचार्या [८]अक्षपाटसंस्कारस्यापि समावेशमिच्छन्ति। तन्न मनुते टीकाकारः। मतमेतत् सयुक्तिकं खण्डयति सः, मण्डपस्यायं संस्कारो न तु कुण्डस्येति च स्थापयति सप्रमाणम्। कुण्डस्यैतान् संस्कारान् सम्पाद्य साधकस्तदनु वागीश्वरी-वागीश्वरयोरावाहनं विधाय सूर्यकान्तोद्भूतामरणिकाष्ठजां श्रोत्रियागारजां वा वह्निं मृत्पात्रे ताम्रपात्रे वा निधाय कुण्डे स्थापयति। अत्र कारणागमप्रामाण्येन—

सूर्यकान्तोद्भवः श्रेष्ठः काष्ठजो मध्यमो भवेत्।
श्रोत्रियागारजो वह्निः कन्यसस्त्विति कीर्तितः॥

इत्येवं पूर्वपूर्वस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपाद्यते। अनुपलब्धेषु त्रिषु वह्निषु स्वगृहादग्रेरानयनमप्यत्रानुमतम्।

एवं सविधि कुण्डस्थापितवह्नेर्नाभिकुण्डस्थितवह्नेश्चाभेदं भावयित्वा वागीशीगर्भसंभूतत्वमपि तत्र भाव्यते। यद्यपि वैदिकविधानेषु पद्धतिरियं नाङ्गीकृता, तथापि वह्नेर्गर्भाधानादयः संस्कारा अनया सूचिता भवन्ति। टीकाकारेण सर्वे एते संस्कारा वैशद्येन निरूपिताः। संस्कृतस्य वह्नेः पञ्चवक्त्रशिवेनाभेदं भावयित्वा तत्रापि

---

८. विषयोऽयं सिद्धान्तसारावलिटीकाकारेण विस्तरेण चर्चितः (पृ. १३९-१४०), नेत्रतन्त्रे (३.४५), स्वच्छन्दतन्त्रे (२.२०१) च वर्ण्यते। तत्र 'अक्षवाट'-शब्दः प्रयुक्तः, कुण्डसंस्कारेषु च परिगणितः। टीकाकारः क्षेमराजः 'यवनिका' इति तस्यार्थं विवृणोति। सिद्धान्तसारावलिटीकाकारो मण्डपस्यायं संस्कारो न कुण्डस्येति वक्ति।

शिवस्याष्टात्रिंशत्कलानां न्यासो विधीयते, [९]शिवाग्निरिति च नाम्ना साम्प्रतं सोऽभिधीयते। पञ्चवक्त्रस्य शिवस्य विभिन्नेषु मुखेषु कामनाभेदेनाहुतयः प्रदीयन्ते। प्रसङ्गेऽस्मिन् वक्त्राभिघारण-वक्त्रसंधान-वक्त्रैकीकरणानां विधयो यद्यपि वैदिकानुष्ठानेनासम्बद्धा इव दृश्यन्ते, तथापि वैदिक[१०]व्याघारणविधिना साम्यं विशेषतोऽवलोकनार्हमत्र विद्यते।

कुण्डस्याग्नेश्च संस्कारान् प्रदर्श्यात्र तदनु घृतस्याष्टादशसंस्काराः प्रदर्शिताः। स्रुचि शक्तेः स्रुवायां च शिवस्य न्यासं विधाय पूर्णाहुतिप्रक्रिया सविशेषं निरूपिता, काम्यहोमानां च विविधफलदानां स्वरूपमित्थं वर्णितम्—

स्वर्णाप्त्यै मधुना च गव्यपयसा गोसिद्धये सर्पिषा
लक्ष्म्यै शर्करया जुहोतु यशसे दध्ना च सर्वर्धये।
अन्नैरन्नसमृद्धये च सतिलैर्द्रव्याप्तये तण्डुलै-
र्लाजैः सद्यशसे कुसुम्भकुसुमैः साश्वारिजैर्वाससे॥
पद्मैर्भूपतिमुत्पलैर्नृपवधूस्तन्मन्त्रिणः कैरवै-
रश्वत्थादिसमिद्भिरग्रजमुखान् वर्णान् वधूः पिष्टजैः।
पुत्तल्यादिभिरन्वहं च वशयेज्जम्भं त्वनावृष्टये
लोणैर्वृष्टिसमृद्धये च जुहुयान्मन्त्री पुनर्वेतसैः ॥ इति।

प्रायः सर्वेषु तन्त्रागमग्रन्थेषु विविधकामनानां सिद्धये एतादृशानामेव द्रव्याणामाहुतयः प्रदीयन्त इति प्रदर्शनार्थमेवात्रेमौ श्लोकौ समुद्धृतौ स्तः।

पूर्णाहुतिप्रयोगक्रमोऽत्रत्यो विशेषेणावधानार्हो विद्यते। अयं हि तस्य क्रमः— स्रुवपात्रसाहाय्येन स्रुचि घृतमापूर्य, ऊर्ध्वमुखे स्रुक्पात्रेऽधोमुखं स्रुवं निधाय, स्रुक्पात्रस्याग्रभागे पुष्पं संस्थाप्य, शङ्खमुद्रासदृशाभ्यां हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवयोर्मूलभागं तथा गृह्णीयात्, यथा हि दक्षिणहस्तस्योपरितनो भागो वामहस्तस्य पश्चात्तनो भागश्च गृहीतः स्यात्। तदनु पादावुभौ समीकृत्य समुत्तिष्ठेत, ऋजुकायशिरोग्रीवं च समं धारयन् नाभिस्थाने स्रुक्स्रुवयोर्मूलं किञ्चित् तिर्यक्कृत्य संयोजयेत्, स्रुक्पात्रस्याग्रभागे दृष्टिं स्थिरीकृत्य वौषडन्तं मूलमन्त्रं जपन् तारस्वरेण शनैः शनैः स्रुक्स्रुवयोर्मूलं स्वीयवामस्तन-पर्यन्तमुत्थापयेत्। सर्वमेतत् क्रियाकलापं यथाशास्त्रं संपाद्य पतन्त्यां घृतधारायां बिन्दुस्थानतो निःसरन्तीममृतधारां भावयित्वा यवप्रमाणयाऽविच्छिन्नधारयाऽवशिष्टं सर्वं घृतमग्नावाहुति-रूपेण समर्पयेत्। पूर्णाहुतिरियमित्थं शास्त्रेषु वर्ण्यते—

---

९. चन्द्रज्ञानागमे (१.११.४७-५७), मकुटागमे (१.२.२४-३३), पारमेश्वरागमे (४.१-४३) चानयैव पद्धत्या शिवाग्निसम्पादनं निर्दिष्टम्। शिवाग्नेः स्वरूपमेतच्छिवपुराणीयविद्येश्वरसंहितायां (१.१८.६२-६७) सुस्पष्टं वर्ण्यते।

१०. ''व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते'' (१७.१२) इत्येवं माध्यन्दिनसंहिताया वेदार्थपारिजाताख्ये भाष्ये व्याघारणलक्षणं निर्दिष्टम्। व्याघारणशब्दोऽत्रत्योऽभिघारणपर्याय एव। प्रस्तुते स्थले वक्त्राभिघारणप्रक्रिया शिवस्य पञ्चमुखेष्वत्र प्रदर्शितपद्धत्यैव सम्पाद्यते। पञ्चगृहीतस्याज्यस्य सार्थक्यमपि शिवपञ्चवक्त्राधारेण सिद्ध्यति।

घृतेन स्रुचमापूर्य निधायाधोमुखं स्रुवम्।
तदग्रे पुष्पमारोप्य शङ्खसंनिभमुद्रया॥
हस्ताभ्यां स्रुक्स्रुवौ धृत्वा तन्मूलं नाभिमध्यगम्।
कृत्वा चोत्थाय संतिष्ठेदृजुकायः समाहितः॥
मूलमन्त्रमतिस्पष्टं वौषडन्तं समुच्चरन्।
बिन्दोरुद्गीर्णपीयूषैर्नासारन्ध्रविनिर्गतैः ॥
स्रुवमापूरयन् सर्पिः पूर्णां दद्याच्छिवानले।

श्लोकेष्वेतेषु पूर्णाहुतिप्रक्रिया स्पष्टमुपरितनविधिमनुसरति।

एवं सम्पूर्णं प्रकरणमेतद् वैदिकविधिं सर्वात्मनाऽनुसरति। स्थाने स्थानेऽत्र आगमीया पद्धतिरपि यथायथं संयोज्यते। अग्निकार्यसम्बद्धो विधिरयं बौद्धतन्त्रेष्वपि तथैव वर्ण्यते। तदेतदग्रे प्रतिपादयिष्यते।

अग्निकार्यप्रसङ्गे कुण्ड-मण्डपादिनिर्माणपद्धतिज्ञानमपि नितान्तमपेक्ष्यते। अतोऽत्र (पृ० १५७-२०२) दीक्षाविधिसम्पन्नतायै निर्मीयमाणानां मण्डपानां कुण्डानां च लक्षणानि सम्यङ्निरूपितानि। प्रसङ्गवशादत्र वेदिकाया विस्तारलक्षणे, चतुष्कोणादिकुण्डानां सामान्यलक्षणानि च प्रदर्श्याष्टविधकुण्डानां स्वरूपम्, तेषु सम्पाद्यानि विविधानि काम्यकर्माणि च वर्णितानि। तदेतेषामष्टविधकुण्डानां नामानि बौद्धादितन्त्रेष्वपि समुपलभ्यन्ते, किन्तु निर्माणपद्धतिर्नान्यत्र क्वापि वर्ण्यते। वर्ततेऽस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यं यत् सर्वेषामपि कुण्डानां स्वरूपं सम्यगत्र वर्णितम्। न केवलमेतावदेव, स्रुक्-स्रुव-विष्टर-परिधि-इध्म-समिधा-ज्ञानखड्गसदृशानां यागोपकरणानामपि स्वरूपं सार्वात्म्येन वैदिकपद्धत्यैव समुन्मीलितम्। टीकाकारेण स्पष्टमत्र प्रतिपाद्यते यत् स्रुक्स्रुवपात्रयोर्निर्माणमेकेनैव काष्ठखण्डेन क्रियत इति।

यागधामपदेन यज्ञशालाऽत्र निर्दिष्टा। तदर्थं भूमिग्रहणानन्तरं शल्योद्धारादयः संस्कारा विधीयन्ते। चतुर्विंशत्यङ्गुलप्रमाणो हस्त इति तदर्थं चाचार्यस्यैवाङ्गुलिर्हस्तो वा गृह्यत इति वैदिकपद्धतिरत्राप्यनुक्रियते। सर्वे विषया एते टीकाकारेण नानाशैवागमसाहाय्येन वर्णिता इति विभावनीयं विपश्चिद्भिः। तदनेन दीक्षाप्रसङ्गेऽग्निकार्यप्रकरणे वैदिकविधिविधानानि सार्वात्म्येनानुसृतानीति स्पष्टं विज्ञायते।

बौद्धतन्त्रेषु

बौद्धतन्त्रेषु [११]कालचक्रतन्त्रस्य, तस्य विमलप्रभाख्यायाष्टीकायाश्च वर्तते किमपि नाम वैशिष्ट्यम्। अत्राप्यग्निकार्यप्रसङ्गे वैदिककर्मकाण्डस्य स्पष्टः प्रभावो दरीदृश्यते।

११. शैवतन्त्रशास्त्रस्य ग्रन्थेषु तन्त्रालोकस्याभिनवगुप्तस्य विवेकाख्यस्य तद्व्याख्यानस्य जयरथकृतस्येव बौद्धतन्त्रेषु कालचक्रतन्त्रस्य तद्व्याख्यानस्य च वर्तते किमपि वैशिष्ट्यम्। 'धीः' इत्याख्यायाः पत्रिकाया २२तमेऽङ्के प्रकाशिते ''कालचक्रतन्त्र-विमलप्रभा समीक्षा'' इत्याख्ये निबन्धेऽस्माभिरुभयोरेतयोर्ग्रन्थयोर्विशदः परिचयः प्रस्तुतः। बौद्धतन्त्रेषु वर्णिताः प्रायः सर्वे विषया अत्र विवृताः सन्ति। इदं विशेषेणावधेयं यत् तन्त्रालोकस्य षष्ठसप्तमाह्निकयोः प्राणचारप्रसङ्गे क्षणादिमहाकल्पपर्यन्तं कालचक्रस्य यादृशमाध्यात्मिकं स्वरूपं कालोदय-चक्रोदयवेलायां निर्दिष्टम्, न तद् दृश्यते कालचक्रे विमलप्रभायां वा।

त्रिविध: पञ्चविधश्च वह्निर्वैदिकवाङ्मये वर्ण्यते। अत्रापि दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीयाख्यास्त्रिविधा वह्नयो निर्दिष्टाः, किन्तु तेषां व्याख्याने भिन्ना पद्धतिराश्रिता। द्वितीयस्याध्यात्मपटलस्य ३६ तमे श्लोके हृदय-कण्ठ-नाभिस्थानेषु स्थितिरेषां वर्णिता। हृदयस्थितोऽर्धचन्द्राकारो विद्युदग्निरेव दक्षिणाग्निः, कण्ठकमले स्थितो वृत्ताकार: सूर्याग्निरेव गार्हपत्याग्निः, नाभिस्थाने विद्यमानश्चतुरस्राकार: क्रव्यादाग्निरेवाऽऽहवनीयाग्निरिति वर्ण्यते। त्रयाणामपि वह्नीनामुपरि विद्यमान: सत्यनामा चतुर्थो ज्ञानाग्निरपि विद्यतेऽत्र। न तत्र चन्द्रसूर्ययो: कापि सत्ता। अभिषेकपटलेऽपि (३.७४-७५) होमविधिप्रसङ्गे त्रिविधवैश्वानररूपेण वह्नित्रयमेतदेव वर्णितम्। सहैव आनन्दस्वभाव: सत्याख्यश्चतुर्थोऽग्निरपि चर्च्यते, अत्रैव सर्वविधो होम: संपादनीय इति च। अत्र ऋग्वेदीय: "क्रव्यादमग्निम्" (१०.१६.९) इत्यादिको मन्त्र: सम्पूर्ण: समुद्धृत:, सत्याख्यो ज्ञानाग्निरत्र वर्ण्यत इति चोक्तम्। सप्तजिह्व: सूर्याग्निरप्यत्र (भा. २, पृ० ७५) स्मर्यते, किन्तु न [12]लेलिहानादिजिह्वामय:, अपि तु सूर्यसोमादय: सप्त वारा एव जिह्वापदेनात्र निर्दिष्टा:।

विमलप्रभाकार आहवनीयाग्निमेव क्रव्यादाग्निं मनुते। अधुनैव स्मृत ऋग्वेदीयो मन्त्र: शुक्लयजुर्वेदेऽपि (३५.१९) वर्तते। पितृमेधप्रकरणीय: स मन्त्र:। तत्र क्रव्यादाग्निपदेन श्मशानाग्निर्गृह्यते। अत्रत्या भाष्यकारा: क्रव्यादाग्नितो भिन्नं ज्ञानाग्निं स्मरन्ति। अग्निहोत्रिण: शरीरं ज्ञानाग्नये समर्प्यते, न सामान्याग्नये क्रव्यादायेति तदभिप्रायो वक्तुं शक्यते। विवरणेनानेन स्पष्टीभवति यदग्निचतुष्टयव्याख्यानमेतत् सार्वात्म्येन वैदिकवाङ्मयमनुसृत्यैव विहितमिति। तथापि प्रश्नोऽयमनुत्तरित एव विद्यते यदाहवनीयाग्ने: क्रव्यादाग्निना क: सम्बन्ध इति।

सिद्धान्तसारावलिवर्णितं कुण्डाष्टकमधुनैव चर्चितम्। अत्राप्यध्यात्मपटलसमाप्तौ (श्लो० १५७-१५८) शान्तिककुण्डहोमादीनि संक्षेपेण संचर्च्य तदनु (भा० २, पृ० ११, ७०, भा० ३, पृ० ६५) अष्टविधकुण्डानि वर्णितानि। एतदतिरिक्तं सार्वकर्मिकाख्यं नवमं कुण्डमपि तत्र (भा० २, पृ० ७०-७२) चर्च्यते। कुण्डानामेषां नामानि वर्तुल(वृत्त)-चतुरस्र-धनुषाकार(अर्धचन्द्र)-पञ्चकोण-सप्तकोण-त्रिकोण-षट्कोण[13]अष्टकोणाख्यानि तत्र (भा० २, पृ० १२, भा० ३, पृ० ६५) निर्दिष्टानि। अभिषेकपटले (३. ६-१८) भूपरीक्षा-दिग्विभाग-कुण्ड-वेदिप्रमाण-समित्-क्षीर-दूर्वादिद्रव्याणां देवतासनादीनां च निरूपणं वैदिकपद्धतिमनुसरति। अयमेव विषय: पुनस्तत्रैव (भा. २, पृ० ७०-७६, भा. ३,

---

१२. अत्रैव विभिन्नतन्त्रागमग्रन्थवर्णितानि वह्ने: सप्तजिह्वानामानि द्रष्टव्यानि। अमरकोश-(१.१.५६)टीकायामाप्टेरचितशब्दकोशेऽपि च तानि परिगणितानि। सर्वत्र वैभिन्न्यमेव दृश्यते।

१३. अत्र चाधस्ताच्च कुण्डानां नामानि भिन्नभिन्नान्यवलोक्यन्ते।

पृ० ६५) वर्ण्यते। अष्टविधकुण्डानां लक्षणानि, स्वभावः, होमविधिः, अग्न्याहरणम्, स्रुवक-पात्रीलक्षणमित्यादयो विषया अपि चर्चिताः। [१४]वरदहस्तेनाप्याहुतिप्रदानमत्र विहितम्। साम्प्रतमाहुतिप्रदानस्यायमेव विधिर्विशेषरूपेण प्रचलितोऽस्ति। अत्र (भा० २, पृ० १६) पात्रीस्रुवकयोः पर्यायता निर्दिष्टा, स्रुक्स्रुवकयोर्लक्षणे च प्रदर्शिते स्तः। सर्वेषामेषां वैदिककर्मकाण्डसंबद्धानां सम्पूर्णपरिचयजिज्ञासा नोपशाम्यति विवरणेनानेन, सा च सिद्धान्तसारावलिपठनेन समाहिताऽवश्यं भवेदित्यागमतन्त्रवादिनां वैदिककर्मकाण्ड-परिचयोपादानसरणावस्य वर्तते स्वीयं वैशिष्ट्यम्।

मन्त्रपुरश्चरण(पूर्वसेवा)प्रसङ्गे दशांशो होमः सर्वत्र विधीयते। अत्राप्यभिषेकपटले (भा० २, पृ० ४३) कोटिजापानन्तरं दशलक्षहोमो निर्दिष्टः। चक्री, कुण्डलम्, कण्ठिका, रुचकम्, मेखला, [१५]भस्म-यज्ञोपवीतमिति षण्णां मुद्राणां विधानं कापालिकेषु बौद्धेषु च तन्त्रेषु वर्तते। अत्र भस्म-यज्ञोपवीताख्याया मुद्रायाः समावेशः कापालिके मते भवतु नाम, किन्तु बौद्धमतेऽपि तस्याः स्थितिराश्चर्यकरीव प्रतीयते। यतो हि साम्प्रतिका बौद्धा भस्मधारणं पाशुपतादिशैवानां यज्ञोपवीतधारणं च त्रैवर्णिकानां विधिष्वन्तर्भूतमिति मन्वते। त्रिकाल-सन्ध्योपासनं वैदिकविधानाङ्गमिति जानीमो वयम्। किन्तु मध्यरात्रिसमावेशपुरस्सरं चतुर्णां सन्ध्यानामङ्गीकृतिः सर्वेषु योगतन्त्रागमशास्त्रेषु प्रायो वर्तते। आसां चतुर्विधसन्ध्यानामुल्लेखो विविधेषु स्थलेषु (भा० १, पृ० ७४, १०५, १८२, २१०; भा० २, पृ० २७, ७५; भा० ३, पृ० १७, २०, ३४, १०४, १०६, ११२, ११७), अन्यत्र च वसन्ततिलकादिषु दृश्यते। तेन सन्ध्यावन्दनस्यापि सद्भावो बौद्धतन्त्रेषु वर्तत इति न केनाप्यपलपितुं शक्यते। पञ्चमे ज्ञानपटले निरूपितं चतुर्थसन्ध्याया आन्तरं स्वरूपं सविशेषं दर्शनार्हमास्ते। अनेन स्पष्टीभवति यद् बौद्धतान्त्रिकाणां दृष्टिर्नैवासीत् तावती संकीर्णा, यावती हि श्रीलङ्कातः प्रसृते साम्प्रतिके बौद्धधर्मे पाश्चात्त्यैराधुनिकैश्च भारतीयैर्विद्वद्भिरुद्घोष्यते।

वैष्णवागमेषु

"वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति ते त्रिविधो मखः" इत्यभिप्रायं व्यक्तीकुर्वन्ति वाक्यानि वैष्णवागमेषु पुराणेषु च समुपलभ्यन्ते। एषु वैखानसा वैदिकम्, पाञ्चरात्रास्तान्त्रिकम्, भागवताश्च मिश्रं मार्गमाश्रित्य भगवदाराधनं कुर्वन्तीति तदभिप्रायो

---

१४. दक्षिणहस्ताङ्गुलीनां सविशेषया स्थित्या शुष्कद्रव्य-क्षीरादीनामाहुतयः प्रदातुं शक्यन्ते। घृताहुतिदानावसरे साम्प्रतं यज्ञीयवृक्षपुटैश्चमसाकारीकृतैस्ताः प्रदीयन्ते।

१५. अत्र निर्दिष्टां चक्रिमुद्रां परित्यज्य भस्म-यज्ञोपवीते च पृथक् परिगणय्य मुद्राणां संख्या कापालिकबौद्धमतयोः षट् स्वीकृता। हेवज्रतन्त्रे (१.३.१४) तु चक्रिमुद्रामङ्गीकृत्य भस्मयज्ञोपवीते च परिहृत्य पञ्चमुद्रापक्षः स्वीकृतः। विमलप्रभाकारो नैनं पक्षमङ्गीकृतवानित्यनेन स्पष्टीभवति। 'धीः'-पत्रिकायाः प्रथमोऽङ्कोऽस्मिन् प्रसङ्गे दर्शनार्हः।

व्यज्यते। मखशब्दोऽत्र यागपर्यायितया प्रयुक्तः। सात्वतसंहिताभाष्यकारोऽलशिङ्गभट्टः— "यागो बिम्बादिषु भगवदर्चनम्, होमो वह्निसन्तर्पणम्" (पृ० १९-२०)इत्येवं यागहोमयोः परिभाषामातनोति। अनेन स्पष्टीभवति यद् वैष्णवागमेषु वह्निसन्तर्पणमप्युपदिश्यते। अधुनैव प्रकाशितेऽस्मदीये "वैष्णवागमविमर्शः" इतिनामधेये ग्रन्थे (पृ० १०-११, १३-१५) सप्रमाणमुपस्थापितमेतत्—वैखानसागमेषु वैदिककर्मकाण्डस्य साक्षात्, किञ्चित्परिवर्तितं वा स्वरूपमङ्गीक्रियत इति। पाञ्चरात्रागमेषु भगवदर्चाप्रसङ्गे मन्त्रैरागमिकैः सह वैदिकमन्त्रा अपि पठ्यन्त इति परःशतं तादृशा मन्त्रा विविधासु संहितासु प्रतीकरूपेण पठिता इति तेषां संग्रह केनचिदनुसन्धित्सुना कृतो वर्तते। भागवतसम्प्रदायस्तु मिश्रविभागान्तर्गत इति तत्र वैदिकीं तन्त्रागमीयां स्मार्तपौराणिकीं च पद्धतिमनुसृत्य भगवदर्चा विधीयत इति स्पष्टमेव। श्रीमद्भागवतपुराणान्तर्गता भगवदर्चापद्धतिर्विभागेऽस्मिन् समावेशमर्हति। श्रीमता वल्लभाचार्येण श्रीमद्भागवतं चतुर्थप्रस्थानत्वेन स्वीक्रियते। भागवतेऽस्मिन् सम्प्रदाये भक्तिमार्गस्य श्रेष्ठत्वं प्रतिपाद्यते। "भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते" इत्येतादृशानि वचनानि प्रमाणतयोपस्थापयितुं शक्यन्ते। विहाय भक्तिमार्गचर्चां सात्वतसंहितावर्णितो होमविधिरेव प्रसङ्गप्राप्तोऽत्र संक्षेपेण प्रस्तूयते।

अग्निसन्तर्पणविधिरत्र षष्ठे परिच्छेदे (श्लो० ७५-१६२) वर्ण्यते। कुण्डलक्षणम्, कुण्डसंस्काराः, कुण्डस्याष्टदिक्षु कलशाष्टकस्थापनम्, विदिक्षु चतुर्मूर्तिसमाराधनम्, [१६]आरण्यादि-भेदभिन्नस्य वह्नेरानयनम्, कालवैश्वानररूपस्य विष्वक्सेनमूर्तेर्ध्यानम्, अग्नेः परिसमूहनादयः संस्काराः, पात्रासादनम्, आज्यसंस्काराः, स्रुक्स्रुवपात्रसंस्काराः, पवित्रधारणम्, होमः, [१७]आहवनीय-सभ्य-गार्हपत्य-ओदनम्पचनाख्याश्चत्वारो वह्नयः, तेषां चतुर्षु दिक्षु स्थापनम्, तेषु भगवदावाहनम्, इध्मसमिधादीनां विधानम्, [१८]सप्तविधसमित्सु अन्ननामकसमित्प्रदानस्य विशिष्टः प्रकारः, यज्ञीयकुण्डस्थभस्मना [१९]तिलकधारणमित्यादयो विषया वैदिक्या विशिष्टप्रक्रिययैव सम्पादनीया इति प्रतिपादयन्ती संहितेयं सर्वां वह्निसन्तर्पणप्रक्रियां प्रदर्शयामास। जयाख्यायामपि १५तमे पटले सम्पूर्णे सोऽयमग्निकार्यविधिर्विस्तरेण वर्ण्यते।

---

१६. आरण्यपदेनात्रारणिजस्तन्मन्थनोद्भूतो वह्निरभिप्रेतः, न तु दावानलोऽरण्योद्भूतः।

१७. दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीयाख्यास्त्रयोऽग्नयः, सभ्य-आवसथ्यौ च द्वावित्याहत्य पञ्च वह्नयो वर्ण्यन्ते वैदिके वाङ्मये। प्रस्तुते ग्रन्थे विहाय दक्षिणाग्निं चत्वारो वह्नयो वर्णिताः। ओदनम्पचनशब्दोऽत्र आवसथ्य(गृह्याग्नि)पर्यायः।

१८. सप्तप्रकारासु समित्सु ग्रन्थेऽस्मिन् (पृ० ९९) प्रधानभूतया समिधया सह पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चरु-घृतानामपि समित्सु समावेशोऽभिमतः।

१९. यज्ञीयभस्मना तिलकधारणं स्वस्वसम्प्रदायानुरूपमथवा भ्रूमध्ये बिन्दुरूपेण कर्तुं शक्यते।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्रेषु

शैवप्रत्यभिज्ञाशास्त्रेषु नेत्रतन्त्र-स्वच्छन्दतन्त्रयोर्वर्तते विशिष्टं स्थानम्। नेत्रतन्त्रं मृत्युञ्जयभट्टारकनाम्नाऽपि प्रथते। द्वाविमौ ग्रन्थौ क्षेमराजकृतयोद्योतनाम्न्या टीकया सह कश्मीरग्रन्थमालायां प्रकाशितचरौ। दिल्लीनगरीतः पुनः प्रकाशनमेतयोः सम्पन्नम्। अनयोरपि तन्त्रयोर्दीक्षाप्रकरणे वह्निसमाराधनविधिर्वर्ण्यते। नेत्रतन्त्रस्य तृतीयेऽधिकारे (श्लो० ३८-८२), स्वच्छन्दतन्त्रस्य द्वितीय पटले (श्लो० १८३-१८९) च वह्निसन्तर्पणसंबद्धास्ते सर्वे विषया वर्णिताः, ये ह्युपरिष्टाच्चर्चिताः सन्ति।

नेत्रतन्त्रे (३.४५), स्वच्छन्दतन्त्रे (२.२०१) चाक्षवाटाख्यः कुण्डसंस्कारो वर्ण्यते, यो हि [२०]अक्षपाटनाम्ना पूर्वमत्र चर्चितः। स्वच्छन्दोद्योते यवनिकार्थकतया स व्याख्यातः। कुण्डप्रकरणेऽस्य निर्देशात् तस्यैवायं संस्कारोऽनयोस्तन्त्रयोरभिमतः। सिद्धान्तसारावलितट्टीकाकारयोर्मते मण्डपस्यायं संस्कारो न कुण्डस्येति पूर्वं चर्चितमेव। वागीशीसमावाहनप्रक्रिया सिद्धान्तसारावलिसमानाऽनयोरुभयोस्तन्त्रयोर्वर्तते। नेत्रतन्त्रे स्रुक्स्रुववेदिकाकण्ठादीनां निर्माणविधिरपि वर्णितः। अत्र (३.७०) कुण्डं क्रियाशक्तिरग्निश्च ज्ञानशक्तितया व्याख्यातः। [२१]अग्नेर्नवजिह्वा अत्र (३.७६) सूच्यन्ते, तासां नामानि च क्षेमराजेन निर्दिष्टानि। विविधकामनासिद्ध्यर्थं विविधद्रव्याहुतिविधानमप्यत्र प्रदर्श्यते।

स्वच्छन्दतन्त्रेऽपि कुण्डसंस्कार-विष्टरलक्षण-स्रुक्स्रुवसंस्कार-आज्यसंस्कार-वक्त्रसन्धान-काम्याहुतिविधानसदृशा विषयाः सिद्धान्तसारावलिपद्धत्यैव वर्ण्यन्ते। संस्कारैः संस्कृतोऽग्निरत्रापि शिवाग्निनाम्नैव निर्दिष्टः। भैरवसमाराधनमस्य तन्त्रस्य स्वीयं वैशिष्ट्यम्। कामनाभेदेन आहुतिद्रव्यभेदोऽत्रापि दृश्यते। भुल्लकनामा कश्चन प्राचीन आचार्यः सिद्धान्तशैवपद्धत्या भैरवतन्त्रमेतद् व्याख्यातवानिति तन्मतं बहुधा निराकृतवान् क्षेमराजः। व्याख्यानमेतन्नाधुना समुपलभ्यते। नृपतिपदप्राप्तयेऽत्र (२.२८५) फलुष(नृमांस)-आहुतिविधानं दृश्यते। तेन तन्त्रस्यास्य भैरवतन्त्रान्तःपातित्वमेव सिद्ध्यति, सिद्धान्तशैवतन्त्रेषु तादृशाचाराणामदर्शनात्।

वीरशैवशास्त्रेषु

वीरशैवमतं चर्चितमुपरिष्टात्। नातिचिरं शैवभारतीशोधप्रतिष्ठानतो वीरशैवागमग्रन्थाः पञ्च प्रकाशिताः। अत्रत्यः पारमेश्वरागमो मतङ्गपारमेश्वराद्भिन्नः। अत्र न दृश्यते मतङ्गवत्

---

२०. उपरितनी अष्टमी टिप्पणी द्रष्टव्या।

२१. ''भावयेन्नवजिह्वं तु'' (३.७६) वचनस्यास्य व्याख्यायां क्षेमराजेन—''राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुहारिका। वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका॥ सर्वसिद्धिप्रदा'' इत्येवमग्नेर्नवजिह्वाः परिगणिताः। कस्य ग्रन्थस्य वचनमिदमिति तत्र नैव सूचितम्।

पादविभागः। एवमेव चन्द्रज्ञान-सूक्ष्म-मकुट-कारणाख्या आगमा अपि सिद्धान्तागमेषु परिगणितानां तत्तदागमानामुत्तरभागतया परिगण्यन्ते। ''सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते। निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्॥'' (५.१४) इति सिद्धान्तशिखामणौ वर्ण्यते। सर्वेष्वेतेषु ग्रन्थेषु वह्निसमाराधनं वैदिकपद्धतिमेव समनुसरति।

पारमेश्वरागमे चतुर्थे पटले होमविधिर्वर्णितः। अत्रत्यं वैशिष्ट्यमेतद् यदत्र कुण्डैः सह स्थण्डिलानां च स्वरूपं निर्दिष्टम्। स्थण्डिलानां त्रैविध्यं कुण्डानां च पाञ्चविध्यमत्रोपवर्णितम्। तत्र स्थण्डिलानां नामानि चतुरस्र-त्र्यश्र-वृत्तानि, कुण्डानां च चतुरस्र-त्र्यश्र-वृत्त-अर्धचन्द्र[२२]कमठानि सन्ति। सूर्यारणिशिवागारशिवयोगिगृहादिभिरग्निरानेतव्य इति च तत्रोपदिष्टम्। सूर्यारणिपदाभ्यां सूर्यकिरणैरुत्पन्नोऽरणिमन्थनजश्च वह्निरभिप्रेयते। भूप्रदेशस्य वीक्षणादयोऽष्टौ संस्काराः, कुण्डे स्थापितस्य वह्नेः शिवात्मना ध्यानम्, अग्नेर्जातकर्मादयः संस्काराश्च क्रियन्ते। अग्नेर्जिह्वासप्तकमत्र वर्ण्यते। तासु कामनाभेदेन विधीयमानो होमोऽप्यत्र निर्दिष्टः। लेलिहाना, कराली, रोचिष्केशा, त्रिलोहिता, विद्युत्, प्रभा, शिवा चेति जिह्वानां [२३]नामानि सन्ति। कुण्डस्य मेखलासु पूज्यमानानां [२४]त्रिपञ्चाशद्देवतानां विन्यासक्रमोऽनितरसाधारणोऽत्र निर्दिष्टः। तदनु शिवस्वरूपोऽग्निरत्र स्तूयते। परिधिस्थापनम्, यज्ञपात्रस्थापनमित्यादिभिः सह स्रुक्स्रुवसाहाय्येन पूर्णाहुतिप्रदानादयो विषया अप्यत्र सम्यगुपवर्णिताः।

एतदतिरिक्तेषु चतुर्षु ग्रन्थेषु सूक्ष्मागमेऽग्निकार्यचर्चा नास्ति। शिष्टेषु त्रिष्वपि संक्षिप्ततरमेव विवरणं वर्तते। तथा हि चन्द्रज्ञानागमे क्रियापादे—(११.४७-५७) शैवसंस्कारसंस्कृतेऽग्नौ स्थालीपाकविधानमुपवर्ण्यते। गार्हपत्यादयोऽग्नयोऽत्र वैतानाग्निपदेन व्यपदिष्टाः। ग्रन्थस्थटिप्पण्यां ''वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु''(४.७) इति कालिदासीयाभिज्ञानशाकुन्तलपद्ये वर्णिता वह्नयः परिचायिताः। समित्प्रसङ्गोऽत्रत्योऽवधानार्हो वर्तते। [२५]समित्सु दूर्वाया अपामार्गस्य कुशस्य च परिगणनमत्र विद्यते। समिधया सह पवित्रस्य [२६]वेदस्य च लक्षणं प्रदर्श्य, इध्मस्य परिधेश्च प्रमाणमप्यत्र

---

२२. श्रीचक्ररचनायां त्रयः प्रस्तारा भू-कूर्म(कमठ)-मेरुसमाख्याः स्वीक्रियन्ते। अत्र कुण्डस्यापि कमठाख्यो भेदः स्वीकृतः। तदेतन्नाम कुण्डप्रकरणे कुत्रापि न दृश्यते। वस्तुतः स्थण्डिलेऽस्य परिगणनं कर्तुं शक्यते।

२३. उपरितनी द्वादशी टिप्पणी द्रष्टव्या।

२४. वास्तुशास्त्रेषु चतुष्षष्टिपदीये एकाशीतिपदीये च वास्तुमण्डले त्रिपञ्चाशद्देवानां पूजनक्रमो निर्दिश्यते। सिद्धान्तसारावलौ (४.२५-२८) तेषां नामानि द्रष्टुं शक्यन्ते। अत्र (४.४३-५४) तु कुण्डस्य मेखलासु परितः पूज्यानां देवतानां नामानि परिगणितानि। अत्र संख्यासाम्यं विहाय नामावल्योः प्रायो वैभिन्न्यमेव दृश्यते।

२५. उपरितनी अष्टादशी टिप्पणी द्रष्टव्या। तत्र सप्तविधसमित्सु अपामार्ग-दूर्वा-कुशानां नामानि नैवावलोक्यन्ते।

२६. सिद्धान्तसारावलौ पवित्र-वेदपदयोः परिचयो नास्ति। चन्द्रज्ञानागमे (पृ. १२४) टिप्पण्यां लक्षणमेतयोर्द्रष्टव्यम्। यज्ञीयकर्मकाण्डेऽनयोरप्युपयोगिता समानमाना वर्तते।

निर्दिश्यते। वह्नेर्विभिन्नान्यङ्गानि परिकल्प्य तेष्वाहुतिप्रदानेन प्राप्तव्यानां फलानां विवरणमप्यत्र वर्तते।

मकुटागमे क्रियापादे (२.२४-३२) तथैव संक्षेपेणाग्निकार्यविधिर्वर्ण्यते। अत्र शिवाग्निः शिवस्य घोरा तनुः कथिता। [२७]सुवर्णा, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरक्ता, अतिरक्ता चेति सप्त जिह्वा अग्नेरत्र परिगणिताः। कस्यां दिशि, कस्यां जिह्वायां कस्य फलस्य प्राप्तये होमो विधेय इति निदर्श्य शिवाग्नेर्ध्यानमपि वर्ण्यते।

कारणागमक्रियापादे (१.१६-२८) मण्डप-कुण्ड-मण्डलविधयः सहैव संक्षेपेण वर्णिताः। "न्यग्रोधस्तस्य पूर्वस्याम्" (१.१९) इत्यादिकः श्लोकः सिद्धान्तसारावलिटीकायां (पृ० १५८) समुपलभ्यते। अत्र नव-पञ्च-एक-संख्याककुण्डानामुल्लेखो विद्यते, नामानि तु चतुरस्र-अर्धचन्द्र-त्रिकोण-वृत्त-षडश्र-पद्म-अष्टकोणाख्यानि सप्तैव सन्ति। स्थण्डिलनिर्माणप्रकारोऽप्यत्र वर्णितः। मण्डलेषु गौरीलतालिङ्गाख्यमुल्लिख्यते। लक्षणमस्य सिद्धान्तसारावलौ (पृ० १९७-१९८) द्रष्टव्यम्। अत्रैव क्रियापादे (८.४-११) वैदिक-तान्त्रिकमन्त्रानुल्लिख्य तान्त्रिकमन्त्रेषु सर्वेषामधिकार इति निर्वर्ण्य शिवोपासनायां वैदिक-तान्त्रिकमन्त्रयोरुभयोर्यथेच्छमुपयोगः कर्तुं शक्यत इति स्थाप्यते। एतेन स्पष्टीभवति यत् त्रिष्वप्यागमेषु संक्षेपेणाग्निकार्यविधिर्वर्ण्यत इति।

शाक्ततन्त्रेषु

शाक्ततन्त्रेषु नित्याषोडशिकार्णवस्य वर्तते विशिष्टं स्थानम्। अत्र दशमहाविद्यासु परिगणिताया भगवत्यास्त्रिपुराया उपासनापद्धतिर्वर्णिता। अस्य तन्त्रस्य पञ्चमे पटले जपहोमयोर्वर्तते विधानम्। बौद्धतन्त्रप्रसङ्गे पूर्वं दशांशहोमश्चर्चितः। अत्रापि—"होमं कुर्याद् दशांशेन" (५.२१) इत्यत आरभ्य पटलसमाप्तिर्यन्तं (५.३३) संक्षेपेण विषयोऽयं चर्च्यते। मन्त्रपुरश्चरणप्रसङ्गे विषयोऽयमत्र वर्णितः, नाग्निकार्यविधानतया। पलाशपुष्पादीनामाहुतिदानेन त्रिपुरा विद्या फलदा भवतीत्यत्र प्रोच्यते। योनि-भग [२८]-वर्तुल (वृत्त)-अर्धचन्द्र-नवत्रिकोण-चतुरस्र-पद्म-अष्टपत्राख्यानामष्टकुण्डानां नामान्यत्रापि सन्ति। एतेषु कुण्डेषु विभिन्नानां द्रव्याणामाहुतिदानेन प्राप्तव्यानि फलान्यत्र निर्दिष्टानि। ग्रन्थसमाप्तौ विधिना सहाहुतिदानेन साधकः कालमृत्युयमादिभिर्मुक्तो भवतीति प्रोच्यते, ऋजुविमर्शिनीकारश्च काल-मृत्यु-यमादीनभिन्नार्थकान् शब्दान् सम्यक् प्रमाणपुरस्सरं व्याख्याय वृत्तिभेदेन ते कथं भिन्नार्थका भवन्तीति प्रदर्शयति।

तन्त्रशास्त्रस्य सर्वास्वपि शाखासु वर्तते वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभाव इति प्रदर्शनार्थ-मुदाहरणमुखेनात्र केचन ग्रन्थाः समुपन्यस्ताः। तदाधारेण केचन निष्कर्षाः समुपस्थाप्यन्ते।

---

२७. उपरितन्यौ द्वादशी त्रयोविंशी च टिप्पण्यौ द्रष्टव्ये।

२८. अत्र योनि-भगशब्दयोः पृथक् परिगणनमनयोः पार्थक्यं सूचयति।

तन्त्रशास्त्रेषु हि द्वयोः प्रसङ्गयोर्वैदिकोऽग्निकार्यविधिर्वर्ण्यते। शिष्यस्य दीक्षाप्रसङ्गः प्रथमः, मन्त्रपुरश्चरणप्रसङ्गश्च द्वितीयः। उभयोरनयोः प्रसङ्गयोरुदाहरणमुखेनात्र चर्चा विहितैव।

कुण्डसंख्या

अष्टविधानां कुण्डानां वैदिकानामत्रापि तथैव व्यवहारः प्रवर्तते। विमलप्रभायां सार्वकर्मिकं कुण्डं नवमत्वेन वर्ण्यते, सिद्धान्तसारावलौ च चतुरस्रं कुण्डमेव सर्वेषां कुण्डानामाधारभूतं निर्दिष्टम्। कुण्डानां रचनाप्रकारो नान्यत्र निर्दिष्टः। कुण्डानां नामानि न सर्वत्र समानानि। सप्तकोण-कमठ-भगाख्यानि नामान्युदाहरणतया समुपस्थापयितुं शक्यन्ते। अत्र सिद्धान्तसारावलिन्यस्ता कुण्डनामावली, अन्यानि विधानानि चात्रत्यानि ग्रन्थान्तरापेक्षया वैदिकविधानानुगुणानीति वक्तुं शक्यते। कुण्डेष्वेतेष्वाकर्षणवश्यादिकर्माणि साधयितुं विविधानां द्रव्याणामाहुतिविधानमपि प्रायः सर्वत्र साम्यमावहति। वीरशैवागमेषु पञ्चविधकुण्डानां त्रिविधस्थण्डिलानां चाहत्य संख्याऽष्टमिता भवति, तथापि वर्तते कुण्डस्थण्डिलयोर्महदन्तरम्। कुण्डार्थं खननमावश्यकम्, स्थण्डिलरचना च विहाय खननं पृथिव्युपरि मृत्तिकादिना चत्वरनिर्माणेन सम्पाद्यते। साम्प्रतिके कालेऽग्निकार्यार्थं कुण्डनिर्माणापेक्षया स्थण्डिलस्य प्रयोग आधिक्येन भवति।

पञ्चविधोऽग्निः

दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीयाख्यास्त्रयोऽग्नयः, सभ्य-आवसथ्याख्यौ द्वौ चेति पञ्चाग्नयः शास्त्रेषु प्रथिताः सन्ति। एतेषु प्रथमे चत्वारः श्रौताग्नयः पञ्चमश्च स्मार्ताग्निरिति मन्यते। श्रौताग्निर्वैतानाग्नि[२९]नाम्नाऽपि प्रथितः। आवसथ्याग्निर्गृहाग्निरभिधीयते। अवसथशब्दो गृहपर्यायः। अवसथे तिष्ठतीति स आवसथ्याग्निरभिप्रेयते। गृहस्थाः स्वगृहे पाकादिकमस्य साहाय्येन कुर्वन्तीति गृहाग्निः कथ्यते। सोऽयं सात्वतायामोदनम्पचनाख्यया प्रसिद्धः। रावणस्य दौर्मनस्यमभिप्रेक्ष्य भगवत्या सीतयाऽयमेवाग्निः स्वरक्षायै प्रार्थितः, तेन च सीतायाः प्राकृतिकं देहं स्वस्मिन् विलीनीकृत्य मायिको देहः प्रकटितः। सोऽयं मायिको देह एव रावणेनापहृतः, अग्निपरीक्षावसरे चाग्निना मायीयो देहः संहृतः, प्राकृतिकः कायश्च प्रकटीकृत इत्यांख्यायिकेयं कूर्मपुराणादिषु वर्ण्यते।

अग्निप्राकट्यप्रकाराः

यज्ञीयस्य अग्नेः सम्पादनाय चत्वारो विधयः शास्त्रेषु श्रूयन्ते—मणिजः, अरणिजः, द्विज(श्रोत्रिय)गृहजः, स्वगृहजश्चेति। वीरशैवमते तृतीयश्चतुर्थश्चाग्निः शिवमन्दिरात्,

---

२९. ''वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु'' (४.७) इति कालिदासीयाभिज्ञानशाकुन्तलनाटकपद्ये श्रौताग्नयो वैतानपदेनाभिहिताः।

शिवयोगिगृहाच्चानीयेते। विमलप्रभाकार आवसथ्याग्निं क्रव्यादाग्नितया व्याख्यातवान्। श्मशानाग्निः क्रव्यादाग्नितया शास्त्रेषु प्रथितः, किन्तु विमलप्रभायामृग्वेदप्रामाण्येन चतुर्थो ज्ञानाग्निः क्रव्यादाग्नितया व्याख्यायते।

अग्निजिह्वाः

अग्नेः पर्यायनामसु सप्तार्चिरिति पठ्यते (१.५६)। अमरकोशव्याख्यात्रा भानुजीदीक्षितेन वह्नेः सप्तजिह्वानामान्यत्र धृतानि। वह्नेः सप्त जिह्वा यद्यपि सर्वत्र प्रसिद्धाः, तथापि नामसु वर्तते महान् विपर्ययः। विवाहाद्यवसरेषु विभिन्नासु जिह्वास्वाहुतिविधानवेलायां तासां ज्वालानां लक्षणानि वर्ण्यन्ते। नेत्रतन्त्रोद्योते (३.७६) क्षेमराजेनाग्नेर्जिह्वानवकनामानि निर्दिष्टानि। नान्यत्र तानि समुपवर्णितानि। अतोऽत्र प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम्। अग्नेर्विभिन्नानामङ्गानाम्, तेषु विभिन्नानां द्रव्याणामाहुतिदानेन विभिन्नकामनानां सिद्धयश्चेत्यादयो विषया अपि शास्त्रेषु समुपदिश्यन्ते।

यागोपकरणानि

सिद्धान्तसारावलौ स्रुक्-स्रुव-विष्टर-परिधि-इध्म-समित्प्रभृतीनां यागोपकरणानां लक्षण-प्रमाणादीनि प्रदर्शितानि सन्ति। सूक्ष्मागमेऽपामार्ग-दूर्वा-कुशाख्याः समिधामेव प्रकारा इति निर्वर्ण्य पवित्र-वेद-इध्म-परिधीनां लक्षणानि प्रमाणानि च प्रदर्शितानि। सात्वतसंहितायां समिधां सप्त प्रकारा वर्ण्यन्ते। तत्र पुष्प-धूप-मधुपर्क-बीज-चरु-घृतानां समावेशो वर्तते। अत्र सूक्ष्मागमनिर्दिष्टं प्रकारत्रयं नैव समाविष्टम्। ईदृशानां विषयाणां चर्चा तत्र तत्र स्थापितासु टिप्पणीषु कृतैव। स्वीयमन्तिमं मन्तव्यं प्रकटीकृत्य निबन्धोऽयमुपसंह्रियते।

उपसंहारः

वेदा मानवजातेरादिग्रन्था इति न केवलं भारतीयानां मान्यता, प्रत्युत आधुनिकाः पाश्चात्त्या विद्वांसोऽपि सप्रमाणं सिद्धान्तमेनं स्थापयन्ति। साम्प्रतिके मानवसमाजे ऋग्वेद एवेदम्प्रथमतयाऽवतीर्णो ग्रन्थः। कस्यचन धर्मविशेषस्यायं ग्रन्थः, नैतावती मान्यताऽस्य, किन्तु देवतावाद-नृवंशशास्त्र-भाषाविज्ञानसदृशानां नूतनानां ज्ञानविज्ञानानामुद्भावका वेदा इति सर्वेऽपि जानन्ति। वैदिकमतावलम्बिषु बौद्धेषु जैनेषु च शास्त्रेषु पक्षविपक्षतया बहुधा जल्प्यते, किन्तु सत्यमिदमेव यद् भारतीयप्रजायाः सामाजिकार्थिकगतिविधीनां संचालनं वैदिकवाङ्मयाधृतमेवासीत्। सर्वधर्मविषयकशास्त्ररूपेण भारतीया मनीषिणः शास्त्रमेनं प्रतिष्ठापयितुमापाततः प्रतीयमानानत्रत्यान् दोषान् परिहृत्य परिष्कृतस्य शास्त्रस्यास्य साहाय्येन सततप्रवहणशीलां भारतीयां संस्कृतिं संस्थापयामासुः। एषा हि भारतीया संस्कृतिः प्रवर्तमानानां सदसतां सर्वविधविचाराणां सतर्कमनुशीलनं विधायोपादेयान्

स्वामी रामानन्दाचार्य की उदारदृष्टि

भारत में दो तरह की दृष्टियों का एक साथ विकास होता रहा है। एक दृष्टि है ब्रह्मसूत्र की, जिसमें वेदों के सिवाय सबको नकार दिया गया है। दूसरी दृष्टि है, महाभारत के नारायणीयोपाख्यान की, जिसमें सांख्य और योग को नहीं, पांचरात्र और पाशुपत मत के साथ वेदारण्यक (उपनिषत्) को भी कृतान्तपंचक के रूप में मान्यता मिली है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने पहली दृष्टि का समर्थन किया। जाने-अनजाने स्वामी दयानन्द ने भी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दसवें उल्लास में ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से ही अवैदिक मतों की समालोचना की, जबकि दक्षिणभारत के वैष्णव और शैव सन्तों ने एवं उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने दूसरी दृष्टि को श्रेयस्कर माना। आगम और तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि में ही यह सब कुछ हो सका। वे भगवान् बुद्ध और महावीर के सार्वभौम उपदेशों को स्वीकार करने में परहेज नहीं करते। वैष्णव और शैव आगमों ने इस ओर क्रान्तिकारी कदम उठाये। न जाने क्यों, भारतीय समाज में यह दृष्टि धूमिल हो गई। बौद्ध दृष्टि के साथ समाज ने तन्त्रागमशास्त्र की समन्वयात्मिका दृष्टि को भी नकार दिया। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं। महान् सन्त स्वामी रामानन्दाचार्य ने अपने समय में इन उभयविध दोषों से मुक्त समाज की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया था। उनके वे उपदेश आज हमारे समाज की अमूल्य धरोहर हैं।

भारतीय उदारदृष्टि के दर्शन वेदों में भी होते हैं। लोपामुद्रा अगस्त्यपत्नी, घोषा काक्षीवती, अपाला और रोमशा, सावित्री सूर्या जैसी विदुषी महिलाएँ ऋषिका, अर्थात् ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों के अनेक सूक्तों की द्रष्ट्री मानी गई हैं। अभिप्राय यह है कि इन सूक्तों के मन्त्रों का प्रथम साक्षात्कार इन्हें हुआ था। महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी की अध्यात्मप्रवणता का उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषत् में मिलता है। छान्दोग्य उपनिषत् में सत्यकाम जाबाल की कथा प्रसिद्ध है। छान्दोग्य में ही घोर आंगिरस और देवकीपुत्र कृष्ण के संवाद के रूप में अहिंसा और सत्य की महिमा गाई गई है,एवं महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में भी राजा वसु उपरिचर की कथा के व्याज से यह बताया गया है कि देवताओं के अनुरोध से इनका पालन न कर पाने के कारण राजा वसु की आकाशगमन की सामर्थ्य नष्ट हो गई थी। इस उपाख्यान की चर्चा जैन ग्रन्थों में भी मिलती है। इसी उदारवादिनी दृष्टि का यह प्रभाव था कि संस्कृत भाषा के सुभाषित ग्रन्थों में विज्जका, शीला भट्टारिका, मोरिका, मारुला, इन्दुलेखा, फल्गुहस्तिनी, विकटनितम्बा, सुभद्रा, विह्लणराजकन्या जैसी कवयित्रियों के शताधिक सुभाषित-वचन संगृहीत हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के ''स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्'', ''शुनि

चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:'' जैसे वचनों से तो हम सभी परिचित हैं। छान्दोग्य उपनिषत् का—''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि:, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति:, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष:'' (७.२६.१२) यह प्रसिद्ध वचन आचार्य रामानुज के प्रपत्ति सिद्धान्त का मूल आधार है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में जिस पांचरात्र मत का उल्लेख मिलता है; उसकी सात्वता, जयाख्या और पौष्करा जैसी त्रिरत्न संहिताओं में उसका अतीव विस्तार से वर्णन है। अब तक लगभग ४०० पांचरात्र संहिताएँ खोजी जा चुकी हैं। इनको हम चतुर्धा विभक्त कर सकते हैं। यह इस स्वरूप में कि इनमें से कुछ में प्रधान रूप से भगवान् वासुदेव की, नारायण की, राम की अथवा कृष्ण की उपासना वर्णित है। इनमें अगस्त्यसंहिता भगवान् राम को समर्पित है। अयोध्या पुरी से इसका प्रकाशन भी हो चुका है।

वैष्णव भक्ति का तमिल साहित्य में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। इसमें तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव आलवार भक्तों के गीतों का विशेष स्थान है। संस्कृत और तमिल साहित्य के आधार पर परवर्ती काल में आचार्यों और भक्तों की द्विविध परम्परा चल पड़ी। आचार्य रामानुज की परम्परा लक्ष्मी-नारायण की उपासक थी और इन्हीं के शिष्य भक्त कूरेश ने सीताराम की उपासना का वरण किया। आचार्य रामानुज की परम्परा के वेंकटनाथ (वेदान्तदेशिक) और भक्त कूरेश की परम्परा के लोकाचार्य तक आते-आते इन दोनों मतों में अठारह विषयों में मतभेद उभर आये। आचार्य-परम्परा से संबद्ध पक्ष बड़कलै तथा भक्त-परम्परा से संबद्ध पक्ष टैंगलै नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिणभारत की अपनी यात्रा में हमने यह अनुभव किया है कि ये शब्द उधर इतने लोकप्रिय नहीं हैं। बौद्ध मत में महायान और हीनयान शब्दों की जैसी ही इनकी स्थिति लगती है। हमारी समझ में हीनयान के स्थान पर श्रावकयान शब्द का प्रयोग अधिक रुचिकर होगा। इसी तरह से इन दोनों परम्पराओं को हम आचार्य-परम्परा और भक्त-परम्परा के नाम से संबोधित करना उचित समझते हैं। प्रथम परम्परा में संस्कृत भाषा को और द्वितीय में प्रथमत: तमिल भाषा को और तत: प्रान्तीय भाषाओं को वरीयता प्राप्त हुई। आगे चलकर भक्त कूरेश की रामभक्ति-परम्परा में स्वामी राघवानन्द के शिष्य आचार्य रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। इनकी परम्परा हिन्दी साहित्य में रामावत संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का प्रधान आधार प्रपत्ति-मार्ग है। षड्विध शरणागति के रूप में वैष्णव आगमों और शास्त्रों में इनका निरूपण हुआ है।

आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय के ग्रन्थ ''भागवत संप्रदाय'' (पृ. २३३-३०७) में रामावत संप्रदाय का विस्तार से वर्णन मिलता है। वहाँ स्वामी राघवानन्द का, उनके शिष्य स्वामी रामानन्द का एवं उनके सिद्धान्तों और सेन नाई, पीपाजी, रैदास, कबीरदास जैसे प्रसिद्ध शिष्यों का विस्तार से परिचय दिया गया है। स्वामीजी के वैष्णवमताब्जभास्कर और रामार्चनचन्द्रिका जैसे संस्कृत ग्रन्थों का भी विवरण वहाँ

मिलता है। वहाँ बताया गया है कि आचार्य रामानुज की १४वीं पीढ़ी में स्वामी रामानन्द का आविर्भाव हुआ।

हमने ऊपर कहा है कि छान्दोग्य उपनिषत् के एक वचन के आधार पर आचार्य रामानुज ने प्रपत्ति-सिद्धान्त की स्थापना की थी। रामानुज मत के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीनिवासदास ने यतीन्द्रमतदीपिका में प्रपत्ति शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि ब्रह्मविद्या से भिन्न न्यासविद्या ही प्रपत्ति कहलाती है। इसके पाँच अंगों का वर्णन यहाँ किया गया है। वे हैं—१. आनुकूल्य का संकल्प, २. प्रातिकूल्य का वर्जन, ३. रक्षा का विश्वास, ४. गोप्तृत्ववरण और ५. आत्मनिक्षेपकार्पण्य। न्यासविद्या को ही यहाँ शरणागति नाम दिया गया है।

पांचरात्र शास्त्र (वैष्णवागम) के प्रसिद्ध ग्रन्थ लक्ष्मीतन्त्र में यह विषय कुछ विस्तार से वर्णित है। वहाँ कहा गया है—

निक्षेपापरपर्यायो न्यासः पञ्चाङ्गसंयुतः।
संन्यासस्त्याग इत्युक्तः शरणागतिरित्यपि॥ (१७.७५)

इस वचन को देखने से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी न्यासविद्या के पाँच ही अंग मान्य हैं, किन्तु वास्तव में—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः। (१७.६०-६१)

वहाँ की इन पंक्तियों में शरणागति के छः अंगों का स्पष्ट निरूपण मिलता है। "आत्मनिक्षेपकार्पण्ये" इस तृतीय पंक्ति का द्विवचन ध्यान देने योग्य है, जब कि श्रीनिवासदास ने इसके स्थान पर एकवचनान्त पाठ स्वीकार किया है। यह उचित नहीं है। लक्ष्मीतन्त्र के पूर्व वचन में भी न्यास को पंचांग ही माना गया है, यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि यहाँ न्यास, अर्थात् आत्मनिक्षेप (शरणागति) को ही प्रधान अंगी मानकर उसके पाँच अंगों का अलग उल्लेख किया गया है। "कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः" (२.७) भगवद्गीता के इस वचन में कार्पण्य शब्द का उल्लेख मिलता है। वहाँ इसका अर्थ है—अपनी बुद्धि की दुर्बलता को, अपनी दीन-हीन स्थिति को स्वीकार करना। स्पष्ट है कि कार्पण्य भी शरणागति की एक विधा है। इसके बिना शरणागति पूरी नहीं हो सकती। लक्ष्मीतन्त्र (१७.६६-८२) में शरणागति के इन सभी छः अंगों का स्वरूप प्रदर्शित है। वहाँ आत्मनिक्षेप और कार्पण्य का स्पष्ट ही पृथक्-पृथक् लक्षण बताया गया है।

हमने बताया है कि आचार्य-परम्परा और भक्त-परम्परा में आगे चलकर १८

विषयों में मतभेद उभर आये। अष्टादशभेदनिर्णय, अष्टादशभेदविचार, अष्टादशवाद जैसे ग्रन्थों में इनका विशद विवरण मिलता हैं। इनमें से कोई ग्रन्थ अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास की शोधपत्रिका ब्रह्मविद्या के किसी अंक में प्रकाशित भी हुआ है। ये ग्रन्थ हमारे सामने नहीं हैं, किन्तु जैसा कि हमने सूचित किया, आचार्य रामानन्द ने अपने ग्रन्थ वैष्णवमताब्जभास्कर में अपने पक्ष का निरूपण किया है कि ये भेद किस प्रकार के हैं? इनको मर्कट और मार्जार के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। मर्कट (वानर) के शावक (बच्चा) को कहीं आने-जाने के लिए माता के उदर को सावधानी से पकड़ना पड़ता है। यहाँ मर्कट-शावक का स्वयं अपना प्रयत्न अपेक्षित है। इसके विपरीत मार्जार-शावक को ऐसा नहीं करना पड़ता। उसकी मा (बिल्ली) स्वयं अपने मुँह से पकड़ कर उसे सावधानी से ले जाती है। उक्त दोनों परम्पराओं के उपासकों की भी ऐसी ही स्थिति है। पहला उपासक स्वयं भी प्रयत्नशील रहता है और दूसरा पूरी तरह से ईश्वर की शरण में चला जाता है। षड्विधा शरणागति ईश्वर के प्रति इसी सर्वात्मना स्वात्मसमर्पण के पक्ष को स्पष्ट करती है।

इतना बता देने के बाद अब हम वैष्णवमताब्जभास्कर का संक्षिप्त परिचय देते हुए वहाँ प्रदर्शित इसी शरणागति पक्ष के अठारह विषयों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं। स्वामी भगवदाचार्य के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ का संस्करण हमारे पास है। इसमें कुल १८१ श्लोक हैं। श्री सुरसुरानन्द के द्वारा उपस्थापित दस प्रश्नों का यहाँ समाधान किया गया है। मुक्ति के साधन के विषय में किये गये चतुर्थ प्रश्न के उत्तर में ९३ से ११० संख्या तक के श्लोकों में उक्त अठारह विषयों की चर्चा की गई है, जहाँ आचार्य-परम्परा से भक्त-परम्परा का मतभेद है। उन श्लोकों का भाव इस प्रकार है—

१. एक समय ऐसा आता है कि कर्मप्रवाह के कारण इस संसार में जन्म-मरण के चक्कर में पड़े हुए परतन्त्र जीव के ऊपर प्रभु की अहैतुकी कृपा अपने आप हो जाती है। २. भगवत्प्रपत्ति का आश्रय लेने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसमें किसी प्रकार का तारतम्य नहीं होता। ३. भगवत्प्रपन्न निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग में से किसी एक का भी सहारा लेकर मुक्त हो जाता है, अर्थात् केवल ज्ञान से ही मुक्ति हो, ऐसा नहीं है। ४. भगवान् की शक्ति लक्ष्मी अणु पदार्थों में अणु रूप से और विभु पदार्थों में विभु रूप से व्याप्त रहती है। इस तरह से इनकी द्विधा व्याप्ति मानी गई है। ५. भगवत्स्वरूपा श्रीपदवाच्या भगवती सीता निरुपाय जीवों के लिये उपायरूपा है। यह दयालु होकर जिस जीव को भगवान् की गोद में रख देती है, भगवान् उस महापामर को भी स्वीकार कर लेते हैं। ६. स्वजनों के अपराध की ओर दृष्टिपात न करना

ही वात्सल्य कहलाता है। भगवान् का यही वात्सल्य जीव को मोक्ष दिलाता है।

७. किसी के दु:ख को न सहन करना ही दया कहलाती है। भगवान् की इस दया से जीव मुक्त हो जाता है। ८. न्यास, अर्थात् प्रपत्ति, शरणागति—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। स्वप्रवृत्ति की निवृत्ति ही न्यास कहलाती है। अपने को भगवत्परायण मानकर मैं स्वतन्त्र रूप से अपने कल्याण में प्रवृत्त नहीं हो सकता, ऐसा मानना ही न्यास है। ९. न्यास, अर्थात् प्रपत्ति के, समर्थ अथवा असमर्थ सभी प्राणी अधिकारी हैं। इसके लिए कुल, बल, काल, बाह्य शुद्धि आदि की अपेक्षा नहीं है। १०. प्रपत्ति के द्वारा किसी भी कार्य में अपनी स्वतन्त्रता को न समझना, अर्थात् मैं स्वतन्त्र रूप में कुछ नहीं कर सकता, ऐसा मानना ही धर्मत्याग कहलाता है। ११. विद्वज्जनों ने प्रपत्ति की सिद्धि के लिए तप, जप, यम, नियम आदि अनेक उपाय बताये हैं, किन्तु ये सभी प्रपत्ति के विरोधी हैं। इनसे भगवान् के प्रति परमनिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती। १२. प्रपन्न पुरुष को भी लोकसंग्रह की दृष्टि से वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान अंग रूप में करना ही चाहिये।

१३. प्रपत्ति (शरणागति) के छ: अंगों में से किसी प्रपन्न में यदि किसी अंग की पूर्ति न हो पाई हो, तो भी उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। १४. शास्त्रों के रहस्यों को जानने वाले राम-भक्तों का मानना है कि यह प्रपत्ति ही भगवान् की प्रसन्नता का मूल कारण है। १५. भगवान् के भक्तों के द्वारा की गई प्रपत्ति (सर्वतोभावेन भगवदाश्रय) को स्वीकार कर लेना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है, अर्थात् प्रपत्ति के अंगीकार मात्र से सर्वविध पापों का परिमार्जन अपने आप हो जाता है। १६. शास्त्रों में भगवत्सेवा की जो विधि बताई गई है, उसका जैसे उत्कृष्ट वर्ण वाले भागवत पालन करते हैं, उसी तरह से उनका अनुष्ठान करने का अधिकार अवर वर्ण के भागवतों को भी है। १७ भगवान् अणु (सूक्ष्म)और विभु (स्थूल) सभी पदार्थों में व्याप्त हैं। अणु-व्याप्ति की दशा में भी भगवत्स्वरूप में कोई संकोच नहीं होता, अर्थात् अणु-व्याप्ति की स्थिति में भी मुक्ति के साधन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। १८. यहाँ मोक्ष और कैवल्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रपत्ति के माध्यम से अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देने वाला प्रपन्न आतिवाहिक देवों की सहायता से चन्द्रलोक आदि को पार कर जब आगे बढ़ता है, तब विरजा नदी आती है। वहाँ वह प्रपन्न जीव अपने सूक्ष्मशरीर का त्याग कर देता है। इसीके साथ वह सभी प्रकार के भेदों से अतीत हो जाता है। विरजा नदी के उस पार कैवल्यधाम विराजमान है। यही मोक्ष के नाम से भी जाना जाता है।

इन अठारह भेदों का निरूपण एक ही श्लोक में इस प्रकार हुआ है—

भेदः स्वामिकृपाफलान्यगतिषु श्रीव्याप्त्युपायत्वयो-
स्तद्वात्सल्यदयानिरुक्तिवचसोर्न्यासे च तत्कर्तरि।
धर्मत्यागविरोधयोः स्वविहिते न्यासाङ्गहेतुत्वयोः
प्रायश्चित्तविधौ तदीयभजनेऽणुव्याप्तिकैवल्ययोः॥

वैष्णवमताब्जभास्कर के अठारह श्लोकों में जिन विषयों की चर्चा हुई है, उनका संग्रह इस एक ही श्लोक में कर दिया गया है। इन सभी में मर्कट और मार्जार न्याय की झलक देखने को मिलती है। हम देखते हैं कि बिना वर्ण, जाति, लिंग आदि का भेद किये पूरी मानवता के उद्धार के उपायों का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। आगमों में ज्ञान, क्रिया योग और चर्या में से किसी एक में अथवा सामूहिक रूप में मोक्षप्राप्ति की उपायता वर्णित है। शाक्त आगमों में तत्त्वदर्शन के प्रति यम, नियम आदि की अनुपयोगिता का निरूपण किया गया है। इस स्थिति को यहाँ भी दिखाया गया है । उत्कृष्ट-निकृष्ट की भावना का परित्याग कर यहाँ पूरी मानवता को समान आदर दिया गया है। वात्सल्य, दया, न्यास जैसे शब्दों की एक अद्भुत व्याख्या यहाँ की गई है। इस उदारदृष्टि की पराकाष्ठा पर हम तब पहुँच जाते हैं, जब लोकसंग्रह की दृष्टि से वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान की सीख भी हमें मिलती है। कैवल्य अथवा मोक्ष दशा में चतुर्विध अथवा पंचविध भेदों की चर्चा शास्त्रों से मिलती है। यहाँ उसका भी निषेध कर दिया गया है और बताया गया है कि मोक्ष दशा में किसी भी प्रकार का भेद मान्य नहीं है।

आचार्य स्वामी रामानन्द की इस उदारतम दृष्टि को देखते हुए पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानन्द द्वारा सन्त कबीरदास को दीक्षा प्राप्त होने की प्रक्रिया एक किंवदन्ती मात्र लगती है, क्योंकि आगमशास्त्र के "श्वपचानपि दीक्षयेत्", "द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः" जैसे वचनों को कश्मीर के शिवदृष्टिकार सोमानन्द और आचार्यप्रवर अभिनवगुप्त ने भी उद्धृत किया है। इस उदारतम दृष्टि का सहारा लेकर ही हम भारतवर्ष को अपसंस्कृतियों के आक्रमणों से बचा सकते हैं और उनको भी सुसंस्कृत कर सकते हैं, जो श्रीमद्भागवत के शब्दों में जुगुप्सित कर्मकाण्डों में फँस गये हैं अथवा धर्मपरिवर्तन के माध्यम से पूरी मानवता के उद्धार का सपना देख रहे हैं।

●●●

सांस्कृतिक इतिहास की विसंगतियाँ

बाइबिल या कुरान की रचना के विषय में कोई कुछ नहीं बोलता, किन्तु ऐसे सभी महानुभाव वेदों की रचना के विषय में अतीव मुखर रहते हैं। आज का बहुत बड़ा बुद्धिजीवी वर्ग ईसाई मिशनरियों के इस प्रचार से सहमत है कि गड़रिया किश्म के लोगों ने वेदों की रचना की। अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय जनमानस में हीनभावना को भरने के लिए यह सब कुछ किया। यह भी उस समय जब स्वयं वेद ही सूक्तों और मन्त्रों के द्रष्टा वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि ऋषियों का, लोपामुद्रा-अपाला आदि ऋषिकाओं का, मन्त्रों के इन्द्र-वरण आदि देवताओं के साथ गायत्री-त्रिष्टुप् आदि लयबद्ध छन्दों का भी विवरण देते हैं और ये विवरण सभी वेदों की अपनी-अपनी अनुक्रमणिकाओं में पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। मिशनरी प्रचार के विपरीत कुछ पाश्चात्य भद्र मनीषी वेदों को आधुनिक मानव जाति का आदि-ग्रन्थ मानते हैं और इनके सहारे भाषाविज्ञान, नृवंशशास्त्र, देवतावाद जैसे नूतन विषयों की उद्भावना इन्होंने की है, पूरे विश्व-साहित्य के साथ इनकी कड़ियों को जोड़ा है और मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया है कि इस कार्य में वेदों की भूमिका सर्वोपरि रही है।

वेदों के बाद आधुनिक इतिहासकार सीधे बौद्ध धर्म पर आ टिकते हैं, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्थिति ८ सौ वर्ष ई. पू. सिद्ध हो चुकी है। अहिंसा, सत्य आदि की प्रतिष्ठा उस समय तक हो चुकी थी। इसीलिये योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने इनको ''सार्वभौमा महाव्रतम्'' (२.३१) कहकर चित्रित किया है। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की जन्मतिथि भी भगवान् बुद्ध के पहले मानी जाती है। बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म भारतीय संस्कृति के अधिक नजदीक है। भारतीय संस्कृति का संवर्धन धार्मिक आधार पर न होकर मानवीयता के आधार पर हुआ है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बौद्ध धर्म का भारतीय संस्कृति को कोई अवदान है ही नहीं; करुणा, प्रज्ञा आदि उपादानों के माध्यम से मानव मन के परिष्कार में बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा योगदान रहा है, किन्तु परवर्ती काल में अन्तर्राष्ट्रीयता के व्यामोह में यह बहुत कुछ बदल गया और आज हम श्रीलंका से आयातित बौद्ध धर्म को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, जो भारतीय उदारतम संस्कृति पर हावी होने के लिये कम्युनिज्म के समान ही निरन्तर सचेष्ट है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा आजकल जैन और वैष्णव धर्म अहिंसा के अधिक नजदीक हैं।

जैन ग्रन्थों में ३६३ प्राचीन मत-मतान्तरों की चर्चा मिलती है। आश्चर्यजनक रूप में मत-मतान्तरों की इस संख्या का उल्लेख कश्मीर के प्रसिद्ध ग्रन्थ स्वच्छन्दतन्त्र

(१०.६८०-८१) में भी मिलती है। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के समसामयिक छः शास्ताओं की चर्चा आई है। उनके नाम—१. अजित केशकम्बल, २. पूरण कश्यप, ३. पकुध कात्यायन, ४. मंखलि गोशाल, ५. संजय वेलट्ठिपुत्र और ६. निर्ग्रन्थ नाथपुत्र दिये गये हैं। इनमें अन्तिम नाम जैन धर्म के तीर्थंकर महावीर का है। शास्ता, संघी, गणी, गणाचार्य, तीर्थंकर जैसे विशेषणों से विभूषित इन सभी आचार्यों का संक्षिप्त परिचय आचार्य नरेन्द्रदेव के ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" (पृ. ३-४) में देखा जा सकता है। आजीवक संप्रदाय भी उस समय फल-फूल रहा था और भगवान् बुद्ध ने स्वयं सबसे अधिक समालोचना इसी मत की की थी। इस मत को हम चार्वाक (लोकायत) दर्शन से समरस मान सकते हैं। डॉ. वासम ने अपने "आजीवकाज्" नामक ग्रन्थ में और डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने "लोकायताज्" में इस मत का विस्तृत परिचय दिया है। बौद्ध धर्म और दर्शन का अनुशीलन करते समय इन सबकी अनदेखी नहीं की जा सकती, किन्तु आजकल जान-बूझ कर यही किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह एक चिन्तनीय विसंगति है कि वैदिक वाङ्मय की और कृतान्तपंचक की पूरी परम्परा के साथ ऊपर प्रदर्शित मतवादों तथा परम्पराओं को आधुनिक ऐतिहासिक बहुत पीछे ले जाने को तैयार नहीं हैं और इस समालोच्य कार्य को सम्पन्न करने में कुछ भारतीय विद्वान् भी उनसे पीछे नहीं हैं। इस साहित्य को आक्रामक आर्यों की रचना बताकर वे सिन्धु घाटी की आर्येतर सभ्यता को इससे श्रेष्ठ स्थापित करने का अनथक प्रयास करते रहते हैं। यह भी उस स्थिति में, जब सिन्धु घाटी की लिपि को पढ़ लेने का कोई भी प्रयत्न अब तक सफल नहीं हो सका है। इस विकल्प-जाल को फैलाने का उनका प्रयोजन इतना ही है कि अपनी ही तरह आर्यों को भी आक्रामक सिद्ध कर दिया जाय। जब गाँधीवादी संस्था में भ्रष्टाचार फैलाने वाले व्यक्ति इनके सुर में सुर मिलाते हैं, तो हमें इनके दुष्प्रचार की सार्थकता समझ में आती है। ऐसे महानुभावों के मत के अनुसार भारतीय संस्कृति का इतिहास बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा के साथ ही प्रारंभ होता है।

वेदों के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना करने वालों की दृष्टि ठीक इसके विपरीत है। उनके अनुसार बुद्ध और महावीर ने वैदिक वाङ्मय के वास्तविक अर्थ को न समझ कर उन पर मिथ्या आक्षेप किये हैं। एक अन्य मत के अनुसार आज से ढाई हजार वर्ष पहले आचार्य शंकर ने उनका समाधान प्रस्तुत किया था। भारतीय संस्कृति के इतिहास में आचार्य शंकर के अवदान को कोई झुटला नहीं सकता, किन्तु इतना सही है कि उनका स्थितिकाल उतना प्राचीन किसी भी रूप में स्थापित नहीं किया जा सकता। ब्रह्मसूत्र का भाष्य उनका सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। अपने इस ग्रन्थ में बौद्ध मत का खण्डन करते समय जिन बौद्धाचार्यों के वचनों को उन्होंने उद्धृत

किया है, उनका समय चौथी-पांचवीं शताब्दी से पहले कभी भी नहीं माना जा सकता। आचार्य शंकर का आज जो काल निर्धारित किया गया है, वह भी पूरी तरह से अप्रामाणिक है। भारतीय परम्परा के अनुसार आचार्य शंकर भट्ट कुमारिल से शास्त्रार्थ करने गये थे और भट्ट कुमारिल का काल निश्चित है।

इन वेदाभिमानियों का कहना है कि विगत ढाई हजार वर्ष में भारतवर्ष में कोई नवीन उद्भावना हो ही नहीं सकी। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि विगत २५०० वर्षों से यह देश नाना प्रकार के आक्रमणों से अभिभूत रहा और इसीके कारण यह कोई नया अवदान देने में असमर्थ रहा है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का यह दुश्चक्र ही माना जायेगा कि यहाँ आकर वह दूसरे अन्त में उलझ गया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, षड्-दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थ, चरक-सुश्रुत संहिता, वेदांग ज्यौतिष जैसे ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व की शताब्दियों में हो चुकी थी। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन, पाशुपत और पांचरात्र मत का खण्डन मिलता है। ईसापूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक इन सब विषयों पर खंडन-मंडन के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हुआ। साथ ही पाशुपत तथा पांचरात्र सिद्धान्तों के आधार पर शैव और वैष्णव धर्मों ने भी अपना नया रूप ग्रहण किया। बौद्धों, जैनों, शैवों और वैष्णवों के साथ इसी परम्परा में शाक्त, गाणपत्य, सौर, चान्द्र, स्कान्द, स्मार्त आदि मतों का भी अभिवर्धन हुआ। इस पूरी परम्परा को क्या हम नकार सकते हैं?

हाँ, नकारने का प्रयत्न हुआ है और अब उसी के कारण हमने देश में नये-नये असंगत विचारों के साथ नाना प्रकार की समस्याओं को खड़ा कर लिया है। हमने अनेक स्थानों पर लिखा है कि आधुनिक भारतीय समाज वैदिक एवं तान्त्रिक विसंगतियों में डूबा हुआ है और इनके उत्कृष्ट अवदानों को हम भुला बैठे हैं। इस उभयविध वाङ्मय के उत्कृष्ट विचारों के आधार पर ही हम आज बाह्य अपसंस्कृतियों के हमलों से भारतीय संस्कृति को बचा सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप हम भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को परिभाषित कर सकें। वेदों से लेकर सन्तों तक का साहित्य तो इसमें हमारी सहायता करेगा ही, इस विश्व के पूरे ज्ञान का भी सदुपयोग हम कर सकते हैं। भगवद्गीता का कहना है—"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"। (इस विश्व में ज्ञान से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है)। इस ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है। सेमेटिक धर्म चारों ओर आँख फैला कर देखें कि भारतीय ज्ञान के आलोक से उसका कोना-कोना जगमगा रहा है।

हम अनेक स्थानों पर इस बात का खुलासा कर चुके हैं कि भारतीय संस्कृति की जिन विसंगतियों को आजकल बढ़ा-चढ़ाकर परोसा जा रहा रहा, उनका समाधान यहाँ आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोजा जा चुका था। हमारा निश्चित मत है कि धर्मों की श्रेष्ठता का व्यामोह इसी के आधार पर हटाया जा सकेगा। सेमेटिक धर्मों की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए धर्मान्तरण जैसे कर्मकाण्डों की सृष्टि मानवीय मन को विद्रूप ही बना सकती है। आतंकवादियों को जब तक हम जेहादी घोषित करते रहेंगे, तब तक हमारा ज्ञान दूषित ही रहेगा। अत: आवश्यक है कि वर्तमान काल में विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के कर्मकाण्डों की निष्पक्ष समालोचना की जाय। उपनिषदों ने धार्मिक कर्मकाण्डों की नि:सारता को बहुत पहले उजागर कर दिया था। आज भी वह सिद्धान्त शाश्वत सत्य के रूप में विद्यमान है। परस्पर विरोधी कर्मकाण्डों से तो मानव जाति को छुटकारा दिलाना ही होगा।

त्याग और ग्रहण संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व हैं। इस प्रक्रिया से प्रत्येक धर्म को गुजरना ही होगा। भारत में यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से निरन्तर चलती रही है। जिस दिन सेमेटिक धर्म इस प्रक्रिया से गुजरने को तैयार हो जायेंगे, मानव जाति के लिए वह अतीव शुभ दिन होगा।

आज के ईसाई मिशनरी आदिवासियों की भाषा, वेशभूषा, संस्कार आदि को भी मिटा देने में लगे हुए हैं। दूसरी तरफ अलगाववाद को जेहाद बताया जा रहा है। दूसरों पर अपने विचार थोपने के लिए हम कम्युनिज्म की निन्दा करते हैं, किन्तु सेमेटिक धर्मों के अनुयायी धर्म के क्षेत्र में भी तो यह सब कुछ कर रहे हैं। इस कुन्दिमागी को ज्ञान की सहायता से ही ठीक किया जा सकता है। परस्परविरोधी कर्मकाण्ड तो मानवता को घोर अन्धकार की तरफ ढकेल रहे हैं। सेमेटिक धर्मों में अपनी सही समालोचना को सहन करने की शक्ति (सहिष्णुता) जंब तक नहीं जगेगी, समन्वय का प्रशस्त मार्ग तब तक अवरुद्ध ही रहेगा।

अन्त में हमें इतना ही कहना है कि आज का तथाकथित बुद्धजीवी भारतीय धर्म और संस्कृति के कृष्ण पक्ष से परिचित है, शुक्ल पक्ष से नहीं। इसका कारण धुआँधार मिथ्या प्रचार है। प्रगतिशीलों के दिमाग में ब्राह्मणवाद घुसाया गया है, जब कि वैदिकवाद के साथ तान्त्रिकवाद और सन्तों के उपदेश भी यहाँ बिना किसी धार्मिक युद्ध के फले-फूले हैं। ब्राह्मणवाद के दुराग्रहियों को यह याद रखना होगा कि जैन और बौद्ध धर्म के उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता धर्मकीर्ति जैसे विप्रभिक्षु रहे हैं।

●●●

आतंकवाद पर काशी की चिन्ता

आज की दुनिया में आतंकवाद के दो-तीन रूपों ने पूरी मानवता को अशान्त बना दिया है। आतंकवाद के यूरोपीय स्वरूप की हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। हम यहाँ श्रीलंका और भारत में फैलाये गये आतंकवाद पर ही विचार करेंगे।

एक हजार वर्ष तक एक साथ रहने पर भी हम इस्लाम की क्रूरता, हठवादिता और असहिष्णुता जैसे दुर्गुणों को दूर नहीं कर सके और उनके बहु प्रचारित भाईचारे के संदेश को भी इस्लामिक घरौंदे से बाहर नहीं निकाल सके। उलटे हम भी उन दूषणों से घिरते चले जा रहे हैं। मौलाना वहीदुद्दीन खाँ (अली मियां) साहब जैसे सुलझे हुए विचार वालों का भी कहना है कि भारत में सहिष्णुता पारसियों और ईसाइयों के कारण पनपी है। एक हजार वर्ष से पूर्व के भारत की जानकारी यहाँ के प्रसिद्ध स्तंभकारों को भी नहीं है।

तन्त्रागमशास्त्र एवं तदनुप्राणित सन्तों के उपदेशों का प्रसार विभिन्न भाषाओं के माध्यम से पूरे भारत में हुआ। महात्मा गांधी को हम इन सबका प्रतिनिधि मान सकते हैं। सूफी सन्तों की एक लंबी परम्परा भारत में रही है। इन परम्पराओं में आई दरारों को पाटने का महात्मा गांधी का प्रयत्न ब्रिटिश छद्मनीति के कारण सफल न हो सका और स्वातन्त्र्योत्तर काल में वोट की राजनीति ने यह कार्य नहीं होने दिया। कुछ सिरफिरों की अनुचित मांगों के आगे हम नतमस्तक होते चले गये और एक के बाद दूसरी उनकी दुराग्रह से भरी मांगों को अब भी मानते जा रहे हैं। भारत में फैले आतंकवाद का यही मूल कारण है।

हम आतंकवाद को बढ़ाने का जिम्मेदार अमेरिका को मानते हैं। थोड़ा अपने गिरेबान में झाँक कर देखें कि स्वयं हम इसके लिए कितने दोषी हैं। आज पाँच हजार वर्ष से ही सही, निरन्तर चली आ रही, त्याग और तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर खड़ी भारतीय संस्कृति के उपासक साम्प्रदायिक एवं प्रतिगामी तथा मुसलिम लीग जैसी संस्था को चलाने वाले धर्म-निरपेक्ष एवं प्रगतिशील कहलाते हैं। भारत में गुरु-शिष्य की परम्परा से प्राप्त ज्ञानप्रवाह को संप्रदाय कहा जाता है। धर्म-निरपेक्षता एक असांस्कृतिक शब्द है, इस पर हम बहुत वर्षों से लिखते आ रहे हैं। प्रतिगामी और प्रगतिशील शब्द कम्युनिस्टों की देन हैं। इनके लिए एक हजार वर्ष पहले के भारत से जुड़े व्यक्ति प्रतिगामी और इसका विरोध करने वाले प्रगतिशील हैं। भगवाकरण के नाम पर ये भारतीय संस्कृति के समस्त श्रेयस्कर उपादानों को भी धूलि-धूसरित कर देना चाहते हैं।

ऊपर जिनकी चर्चा की गईं है, भारतीय बुद्धिजीवी प्राय: इनमें से किसी न किसी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। कोढ़ में खाज की तरह सेमेटिक धर्मों का प्रचार

धर्मान्तरण के माध्यम से भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाने का काम कर रहा है। इसीके परिणामस्वरूप भारत में आतंकवाद ने अपने पैर जमाये हैं। पत्रकार अपने को राष्ट्र का चतुर्थ स्तंभ मानता है, किन्तु उनमें से अधिकांश को एक हजार वर्ष पहले की भारतीय संस्कृति का ज्ञान नहीं के बराबर है। यदि थोड़ा-बहुत है भी, तो वह अंग्रेजी अनुवादों पर आधारित है। हमारा अनुभव है कि ब्रिटिश लेखकों और ईसाई मिशनरियों ने भारतीय संस्कृति के विकृत पक्ष को ही उजागर किया है, उज्ज्वल पक्ष को नहीं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद परस्पर के वैमनस्य को बढ़ावा देता है। भारत में इसके पैर जमा लेने पर यह प्राचीनतम देश भी रूस की तरह बिखर जायगा।

हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक धर्म का असत् पक्ष आतंकवाद के लिए जिम्मेदार है। श्रीलंका के बौद्ध धर्म को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। वहाँ का आतंकवाद सीलोनी और तमिल का संघर्ष न होकर हीनयानी बौद्ध और तमिल शैवों के बीच का है। हमें महायानी और मन्त्रयानी बौद्ध दृष्टि को मान्यता देनी चाहिये। श्रीलंका में इसको मान्यता मिलने पर वहाँ का आतंकवाद अपने आप समाप्त हो जाएगा। इसी तरह सूफीमत से अनुप्राणित इस्लाम भी आतंकवाद से दूर हो सकता है। छठी से दसवीं शताब्दी तक अरब देशों में भारतीय ज्ञान का निर्यात हुआ था। अलबेरुनी जैसे विद्वानों ने पुराणों का ही नहीं, पातंजल योगशास्त्र जैसे दार्शनिक ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद किया था। दाराशिकोह ने उपनिषदों का पारसी अनुवाद किया। अरब पंचांग भारतीय पंचांग पर ही आधारित है। अंकशास्त्र (हिन्दस्का) पूरे विश्व को भारतीय देन है। आत्मविश्वास से भरा और हीनग्रन्थि से मुक्त भारत ही आतंकवाद को नष्ट कर सकता है। इसके लिए अमेरिका से अपेक्षा करना आत्मवंचना के सिवाय और कुछ नहीं है। वस्तुत: देखा जाय तो एकेश्वरवादी दृष्टि ही आतंकवाद और अधिनायकशाही को जन्म देती है।

आजकल के असली आतंकवादी और कुछ सिरफिरे भारतीय हिन्दु-आतंकवाद को दुनिया के लिए अधिक हानिकारक मानते हैं। आज से एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में खोजने पर भी 'हिन्दु' शब्द नहीं मिलेगा। किन्तु आजकल इसका विश्वव्यापी प्रचार हो गया है और ''गर्व से कहो हम हिन्दु हैं'' का उद्घोष कर हमने स्वयं भी उसको स्वीकार कर लिया है। हिन्दु शब्द का एक हजार वर्ष का इतिहास परतन्त्रता की बेड़ी में कसा रहा है और आज भी वह उससे मुक्त नहीं हुआ है। यह आतंकवाद न होकर सुरक्षाकवच है। दुनिया से आतंकवाद के समाप्त होने पर यह अपने आप शिथिल हो जायेगा। तब इस तरह के संघटनों को ब्रह्म से बढ़कर मानने वालों का भी एक नया संप्रदाय बन जाएगा।

पूरी दुनिया से आतंकवाद का उन्मूलन करने के लिए हमें काश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त की दृष्टि के सहारे नये मानवतावाद को जन्म देना चाहिए। यह तभी संभव होगा, जब भारतीय प्रशासन सेवा नेकटाई के फन्दे से अपने को मुक्त कर लेगी। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि वैचारिक युद्ध से ही आतंकवाद का सही रूप में उन्मूलन किया जा सकता है। इसके लिए मुस्लिम तुष्टीकरण की समस्त प्रक्रियाओं को रोक कर उनकी मानसिकता में परिवर्तन लाना जरूरी है। दोहरे मापदण्ड के कारण ब्रिटेन और अमेरिका इस कार्य को नहीं कर सकते।

●●●

भगवाकरण से वे क्यों भड़कते हैं?

काशी की गलियों में स्वच्छन्द विचरण करने वाले भगवान् भूतभावन के वाहन रंगीन कपड़ों को देखकर कभी-कभी भड़क उठते हैं। उनकी मौसी भैंस-रानी भी यह निराली हरकत कर बैठती है। यदि समझदार आदमी भगवा रंग को देखकर ऐसी ही हरकत कर बैठे, तो यह विकासवाद के सिद्धान्त के विपरीत ही कार्य होगा। ऐसे में वह मंडल-कमंडल जैसे शब्दों को भी ईजाद कर बैठे, तो हमे आश्चर्य नहीं होना चाहिये। भारत के चार वर्तमान पूर्व प्रधानमंत्रियों की मानसिकता भी इनसे बहुत भिन्न नहीं है, यद्यपि उनमें से एक का सांस्कृतिक धरातल सराहनीय रहा है। ऐसा हमें इसलिए लिखना पड़ रहा है कि आजकल के अधिकांश बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और प्रशासकों को दसवीं शताब्दी से पहले के भारत की जानकारी बहुत कम है और जो कुछ थोड़ा-बहुत मालूम भी है, उसका आधार अनुवाद साहित्य है। इसीलिये १०वीं शताब्दी से पहले के भारत की प्रत्येक वस्तु उनको 'भगवा' दिखाई पड़ती है।

हां, तो यहाँ भगवाकरण की बात चल रही है। मानव संसाधन मन्त्रालय तथा यू.जी.सी. के द्वारा कुछ विश्वविद्यालयों में ज्यौतिष विद्या के अध्ययन-अध्यापन की पेशकश के साथ आजकल इस शब्द को बहुत उछाला जा रहा है। बड़े-बड़े भारतीय वैज्ञानिकों ने भी फतवा दे दिया है कि यह विद्या विज्ञानसंमत नहीं है। हम इस प्रसंग में सबसे पहले वेदांग-ज्यौतिष की चर्चा करना चाहते हैं, जिसकी रचना आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले अवश्य हो चुकी थी। कुछ विद्वान् इसे १४०० ई. पू. की रचना मानते हैं। इस वेदांग ज्यौतिष के माध्यम से ही प्राचीन भारत में हवनकुण्ड, श्येनचिति आदि के निर्माण के प्रसंग में त्रिस्कन्ध ज्यौतिष शास्त्र का आविर्भाव हुआ था, जो गणित (अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित), फलित और खगोल विद्या के नाम से प्रसिद्ध था और आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, वराहमिहिर, भास्कराचार्य जैसे महनीय ज्यौतिषाचार्यों ने इसमें अपना बहुमूल्य योगदान किया था। ज्योतिर्विद्या के इन तीनों क्षेत्रों से संबद्ध कोई भारतीय वैज्ञानिक इन महान् ज्योतिर्विदों के अवदान को नकारता है, तो उसके विषय में हम क्या कह सकते हैं? ऐसी भूल तो पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने भी नहीं की। वे भी भूचलन के सिद्धान्त की स्थापना भारतीय ज्योतिर्विद् आर्यभट ने बहुत पहले कर दी थी, इसको मानने को बाध्य हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को जानने की वैज्ञानिक पद्धति भारतीय पंचांग में बहुत पहले विकसित हो चुकी थी।

हमें ऐसा लगता है कि ज्योतिर्विद्या की फलित शाखा को लेकर यह सब बावेला खड़ा हुआ है। हमें मालूम है कि भारतीय पंचांग चन्द्रमा की गति पर आधारित है और

अंग्रेजी कलैण्डर का निर्धारण सूर्य की गति को लेकर हुआ है। चान्द्र गणना के अनुसार वर्ष में ३५५ दिन तथा सौर गणना के अनुसार ३६५ दिन मोटे तौर पर होते हैं। इस अन्तर को बराबर करने के लिए भारतीय पंचांग में प्रत्येक तीन वर्ष में एक अधिक मास की व्यवस्था की गई है। अंग्रेजी कलेण्डर की अव्यवस्था को तो बहुत बाद में ठीक किया गया, किन्तु भारतीय पंचांग ने अपनी कालगणना में बहुत पहले यह सुधार कर लिया था। अरब देशों की कालगणना भारतीय पंचांग पर ही आधारित है, किन्तु वहाँ अधिक मास, क्षय मास आदि की व्यवस्था न हो पाने से प्रत्येक तीन वर्ष में कालगणना में अन्तर आ जाता है। अस्तु. फलित ज्यौतिष इसी भारतीय पंचांग पर आधारित है। फलतः इसका भी मूल आधार गणित विद्या और खगोल शास्त्र है।

यह भारतीय पंचांग अब हिन्दु-पंचांग बन गया है और भगवा रंग से भड़कने वालों को यह जानकार प्रसन्नता होगी कि 'गर्व से कहो हम हिन्दु हैं' का नारा लगाने वाला संघ परिवार इस हिन्दु पंचांग को धता बताकर पूरी तरह से उनके साथ हो गया है। बाबरी ढांचा कब ढहाया गया, इसकी अंग्रेजी तारीख ही उनको याद है। उस दिन भारतीय तिथि कौन-सी थी, इसका भान उनको नहीं है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना महाराष्ट्र में हुई थी। वहाँ की आज की स्थिति यह है कि छत्रपति शिवाजी महाराज की भारतीय जन्मतिथि के दिन अंग्रेजी तिथि को खोज कर प्रतिवर्ष उसी के हिसाब से उनकी जयन्ती मनाने का उपक्रम हो चुका है। पूना के बुद्धजीवी इसके लिए परेशान हैं कि देहाती जनता अब भी पुराने ढर्रे पर चल रही है। पूना की अन्य गतिविधियों के ऊपर हम अन्यत्र लिख चुके हैं। यह रोग अब अन्य स्थानों पर भी तेजी से फैल रहा है।

इस प्रसंग में हम इतना बता देना चाहते हैं कि आजकल संघ परिवार की स्थिति खेत की रक्षा के लिये बनाई गई कांटों की बाड़ के समान है। भारत में मतभेदों का निराकरण वाद-विवाद की पद्धति होता रहा है, मार-काट से नहीं। वाद-विवाद की तीन पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने वाद, जल्प और वितण्डा के रूप में इनका परिचय दिया है और इनमें वाद की श्रेष्ठता बताई है। जल्प और वितण्डा की भी उपयोगिता इस रूप में मानी गई है कि शास्त्रों की रक्षा के लिए इनका उपयोग कांटों की बाड़ के रूप में करना चाहिये। आज हम देख रहे हैं कि जल्प और वितण्डा का उपयोग भारतीय चिन्तन को आँख-ओझल कर देने में किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि भारतीय ज्योतिर्विद्या आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तों के विपरीत है।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह आक्षेप गणित एवं सिद्धान्त (खगोलशास्त्र) ज्योतिष पर लागू नहीं हो सकता। फलित ज्योतिष पर ही सामान्यतया इस तरह के आक्षेप किये जाते हैं, किन्तु आधुनिकतावादियों को यह समझ लेना चाहिये कि ज्ञान

और विज्ञान शब्दों का यहाँ एक निश्चित अर्थ में प्रयोग किया जाता है। अमरकोश में अध्यात्मविद्या के लिए ज्ञान शब्द का और शिल्प आदि कलाओं से संबद्ध शास्त्रों के लिये विज्ञान शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से प्रचलित है। इस भारतीय परिभाषा के अनुसार फलित ज्यौतिष का भी विज्ञान में ही समावेश होगा।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला। वे भारतीयता से ओतप्रोत थे। इधर हम देखते हैं कि अधिकांश बाहरी पुरस्कार उन भटके हुए महानुभावों के लिए सुरक्षित हो गये हैं, जो भारतीयता को पूरी तरह से मिटा देने के लिए उनके साथ कदम से कदम मिलाकर चलते हैं। ऐसे पुरस्कार पाने वालों की दृष्टि में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का कोई मूल्य नहीं है। ज्ञान और विज्ञान का प्रयोजन लोककल्याण होना चाहिये। वराहंमिहिर की बृहत्संहिता में ऋतु, वर्षा, भूगर्भजल, भूकंप आदि से संबद्ध नाना प्रकार की सूचनाएँ दी गई हैं। विद्वत्परम्परा के लम्बे अनुभवों पर ये टिकी हुई हैं और आज भी लोकभाषा में घाघ और भड्डरी की कहावतों के रूप में ये प्रचलित हैं। ग्रामीण जनता आज भी उनसे लाभान्वित होती है। इसके विपरीत आज का विज्ञान मानवजाति को ही मिटा देने के लिए उतावला हो उठा है।

इस विज्ञान का अन्धानुकरण करने वाले भारतीय थोड़ा ठहर कर सोचें कि लोककल्याणकारी भारतीय विचारों को तार-तार कर देने के लिए वे इतने उतावले क्यों हो उठे हैं। मानव मन तेजी से क्रूरता की ओर बढ़ रहा है। ऐसी स्थितियों में ये वैज्ञानिकंमन्य दोहरा अपराध कर रहे हैं। एक तो आध्यात्मिकता की जड़ें खोदने में ये लगे हुए हैं और दूसरे मध्यकालीन बर्बरता के खिलाफ बोलने का इनमें साहस नहीं रह गया है। भगवाकरण से भड़कने वालों को यह समझ लेना चाहिये कि बहुत दिनों तक ये भारतीय जनता को बहका नहीं पावेंगे और एक दिन इनका यह वितण्डावाद बेनकाब होकर रहेगा। धर्म-निरपेक्ष ताकतों की एकता जैसे जुलमें भी बहुत दिनों तक टिक नहीं पावेंगे और अंग्रेजी पत्रकारिता भी अपना छद्म-आवरण का लबादा बहुत दिनों तक संभाल नहीं सकेगी।

भारत, यूनान, मिस्र, रोम आदि देशों में प्राचीन काल में ज्ञान और विज्ञान की विविध शाखाओं का अपने-अपने तरीके से विकास हुआ है। केवल ज्यौतिषविद्या का ही क्यों? सांख्ययोग, वेदान्त, न्यायवैशेषिक, दर्शन, व्याकरण, पुराणेतिहास, चिकित्साशास्त्र, संगीतशास्त्र, शिल्पशास्त्र जैसे विविध क्षेत्रों में विकसित सार्वत्रिक ज्ञान-विज्ञान का तुलनात्मक समीक्षण होना चाहिये। पाणिनि व्याकरण के साथ अन्य व्याकरणों एवं प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन से अधुनातन भाषाविज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। इस क्रम में पाणिनि व्याकरण की श्रेष्ठता को पूरे विश्व ने जाना-पहचाना है। लखनऊ विश्वविद्यालय और संपूर्णानन्द संस्कृत

विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति श्री को. अ. सुब्रह्मण्य अय्यर ने इस तरह के अन्य अनेक विषयों की पहचान की है, जिनका इस तरह का अध्ययन अपेक्षित है। सं.सं.वि.वि. की शोधपत्रिका सारस्वती सुषमा (व.१७, अ. १-४) में उनके ये विचार प्रकाशित हुए हैं। यदि यह कार्य होता है, तो दुनिया को यह पता चल सकेगा कि आज से २ हजार वर्ष पहले भारतवर्ष ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में कितना समृद्ध था। भगवाकरण के नाम से भड़कने वाले क्या यह कार्य होने देंगे!

हमें यह समझ लेना चाहिये कि प्राचीन काल में और इधर भी भारत में अनेक सांस्कृतिक आन्दोलन हुए हैं। तत्कालीन आवश्यकताओं के पूरा होने के साथ उनका क्षेत्र सीमित होता गया और इस तरह यहाँ नाना धर्मों, संप्रदायों और मतवादों की स्थापना होती चली गई। आधुनिक काल में भी ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज आदि के रूप में ऐसा हुआ। उसी क्रम में हमें संघ परिवार के आन्दोलन को भी देखना चाहिये। धर्मान्तरण, आतंकवाद जैसी दुष्प्रवृत्तियों को रोककर उदारवादी, समन्वयवादी और मानवतावादी भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के साथ, तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के भूत के उतर जाने के बाद इस आन्दोलन की उपयोगिता भी समाप्त हो जायेगी।

सर्वधर्म-समभाव या सर्वधर्म-समादर अच्छे शब्द हैं। तो भी पूरी भारतीय प्रजा की सुख-शान्ति के लिये हमें बंगाल के राजा वल्लालसेन की पद्धति से धर्मों की विसंगतियों को शान्तिपूर्वक अथ च दृढ़ संकल्प के साथ अवश्य मिटाना होगा। तब भगवाकरण की और उससे भड़कने वालों की भी कोई स्थिति नहीं रह जायेगी।

●●●

इतिहास पर नहीं, पाठ्यपुस्तकों पर विवाद

एक दैनिक समाचार पत्र के दिनांक ८ दिसम्बर के अंक में 'हस्तक्षेप' स्तंभ के अन्तर्गत ''इतिहास पर विवाद'' शीर्षक से संग्रहणीय सामग्री प्रकाशित हुई थी। हमारी समझ में यह बच्चों के लिये लिखी गई पाठ्यपुस्तकों का विवाद है। इतिहास से इसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। संस्कृत में 'इतिहास' शब्द की 'इति ह आस' व्युत्पत्ति दी गई है। उसका अर्थ है 'निश्चित रूप से ऐसा हुआ था'। आजकल इतिहास के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है, वह संकीर्ण दृष्टि का प्रचार मात्र है। विगत दो सौ वर्षों में लिखा गया इतिहास कुछ अपवादों को छोड़ कर इसी परिधि में आता है। इन इतिहासकारों का कहना है कि भारतीयों को तो इतिहास का बोध ही नहीं था।

कम्युनिस्टों (प्रगतिशील!) और संघ परिवार (प्रतिगामी!) की विचारधारा के विद्वानों के द्वारा लिखी गई अथवा लिखी जा रही पाठ्यपुस्तकों के पक्ष-विपक्ष में यहाँ चार पृष्ठों में विचारोत्तेजक सामग्री दी गई है। विदुषी रोमिला थापर के मन्तव्य में मध्यमार्गी शब्द प्रयुक्त हुआ है। महात्मा बुद्ध ने दोनों अन्तों का निषेध कर मध्यमा प्रतिपत् का उपदेश दिया था। यह दृष्टि पूरी सामग्री में देखने को नहीं मिलती।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक-दूसरे को लड़ा कर ही पनपता है। प्रगतिशील! इतिहासज्ञों ने समाज की समरसता के नाम पर विश्वव्यापी आतंकवाद के भूत को खड़ा कर दिया। दूसरी तरफ ''गर्व से कहो हम हिन्दु हैं'' जैसा नारा बुलन्द किया जा रहा है। यह शब्द हमारे ऊपर थोपा गया है। एक हजार वर्ष से पहले के भारतीय साहित्य में इसे खोजना पड़ेगा। सर्वप्रथम भारतीय प्रजा को इन दोनों अन्तों से छुटकारा मिलना चाहिये। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' के जैसे 'हिन्दु-मुसलमान' शब्द भी परस्पर के जन्मजात शत्रुओं के लिये प्रयुक्त हो रहा है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद का उद्‌घोष करने वाले राजनीतिज्ञों में भी तो पक्ष-विपक्ष की भावना के स्थान पर शत्रु-मित्रभाव पनप रहा है। भारतीय जनतन्त्र के लिए यह भारी खतरा है। पाठ्यपुस्तकों का विवाद इसीके इर्द-गिर्द घूम रहा है। इस्लाम इस दुनिया की सबसे पिछड़ी विचारधारा है। इसको सुधारने की अपेक्षा आज के अधिकांश विचारक इस विश्व की सर्वश्रेष्ठ औपनिषद विचारधारा को नेस्तनाबूद करने में लगे हुए हैं।

इस विषय को यहीं छोड़कर हम प्रस्तुत अंक की सामग्री की समीक्षा करना चाहते हैं। यहाँ लिखा गया है कि सबसे पहले महात्मा बुद्ध ने गायों को काटने के विरुद्ध आवाज उठाई। वेदांग निघण्टु में गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है। आजकल के इतिहासज्ञों ने भी निरुक्तकार यास्क का समय बुद्ध और महावीर से पहले माना है। 'अघ्न्या' शब्द का अर्थ उन्होंने इस प्रकार दिया है----''अघ्न्या अहन्तव्या भवति,

अघ्नीति वा'' (१०.४३)। अर्थात् गाय अवध्य है, अथवा वह पापों का नाश करती है। महात्मा बुद्ध के पालि भाषा के जिस वचन की वहाँ चर्चा की गई है, उसे वहाँ खोजना पड़ेगा। इतना हम जानते हैं कि महात्मा बुद्ध और महावीर ने यज्ञीय पशुहिंसा का निषेध किया था, किन्तु अहिंसा की प्रतिष्ठा के विषय में भी हम भ्रम पाल रहे हैं। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण को घोर आंगिरस ने अहिंसा का उपदेश दिया था। अहिंसा के उपासक राजा वसु उपरिचर की कथा महाभारत के शान्तिपर्व के अतिरिक्त जैन साहित्य में भी मिलती है। यह राजा पांचरात्र (वैष्णव) धर्म का अनुयायी था। ईसा-पूर्व दसवीं शताब्दी तक आविर्भूत वैदिक साहित्य में सात्वत धर्म के रूप में भी इसका उल्लेख मिलता है। प्राचीन उपनिषदों में भी मोक्ष-मार्ग के लिए यज्ञों को कमजोर नाव बताया था। भगवद्गीता में भी हमें इस आशय के वचन मिलते हैं।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर और तेइसवें पार्श्वनाथ की भी यहाँ चर्चा है, किन्तु उनका भी यहाँ सही मूल्यांकन नहीं किया गया है। काशी हिन्दु विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रो० स्व० लल्लन जी गोपाल ने पार्श्वनाथ का और सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि का समय ईसापूर्व आठवीं शताब्दी माना है। प्रो० लल्लन जी गोपाल ने किसी वाद का चश्मा पहन कर इतिहास नहीं लिखा था।

भारत के आधुनिक इतिहास की कुछ घटनाओं की भी यहाँ चर्चा है। बताया गया है कि हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिए ऐसा किया गया था। उनका यह कार्य गणेश जी को बनाते-बनाते वानर बना देने जैसा है। चित्रकार फिदा हुसैन की मानसिकता इसमें उजागर होती है। विश्वव्यापी आतंकवाद का नंगा नाच इसी की परिणति है, जिससे भारत भी बचा नहीं है। पंचतन्त्र का पारसी अनुवाद ६ठा-७वीं शताब्दी में हो चुका था। वहाँ एक चूहे के उछल-कूद की कहानी है। आतंकवाद की समाप्ति भी तब तक नहीं होगी, जब तक पूरे विश्व में मध्यकालीन बर्बरता के शिकार अतिक्रमणों को पूर्वस्थिति में नहीं ले आया जाता। संघ परिवार की यहाँ अनेक स्थलों पर अनावश्यक चर्चा हुई है। हम पूछना चाहते हैं कि बाबा साहब अम्बेडकर की स्वतन्त्रता संग्राम में क्या भूमिका रही है?

आर्य और अनार्य, साम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और प्रतिगामी, ब्राह्मणवाद और मनुवाद, मंडल-कमंडल, भगवाकरण, तालिबानीकरण जैसे अर्थहीन और दुराग्रह से भरे शब्दों से छुटकारा पाये बिना हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सही स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेंगे। आधुनिक दृष्टि में इतिहास एक सतत गतिशील प्रक्रिया है। नये प्रमाणों के मिलने के साथ पूर्व मान्यताएँ पुरानी पड़ जाती हैं। पुरानी मान्यताओं से चिपके रहना भारतीय संस्कृति का स्वभाव नहीं है। प्राचीन

भारतीय मान्यताओं को मिथक मान लेना और अन्यत्र प्रचलित कथाओं को प्रामाणिक मानना कहाँ का बुद्धिवाद है? इसको हम तर्क की तराजू पर कैसे तोल सकते हैं?

महात्मा बुद्ध और महावीर के बाद के २५०० वर्षों में विकसित सर्ववर्ण-विषयक भारतीय शास्त्रों की सुधारवादी आन्दोलन ने पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। उस समृद्ध साहित्य का सहारा लिये बिना, जिसकी अन्तिम परिणति लोक-भाषाओं के माध्यम से पूरे देश में सन्त-साहित्य के रूप में हुई, हम प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहास का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। इसके बिना हम सतत गतिशील सार्वभौम भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को पहचान नहीं पा रहे हैं। राग-द्वेष से भरी दृष्टि कभी सत्य का दर्शन नहीं कर सकती। इससे लिए राष्ट्र के चतुर्थ स्तंभ पत्रकार-जगत् को अधिक निष्पक्ष बनना होगा।

●●●

भगवाकरण नहीं, भारतीयकरण

आज से लगभग ३२ वर्ष पहले हमारे दो लेख प्रकाशित हुए थे—''हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण'' और ''यह भारतीयकरण क्या है''। इन दोनों का पुनः प्रकाशन ''आगम और तन्त्रशास्त्र'' नामक ग्रन्थ के संस्कृति खण्ड में हो चुका है। लगता है, आजकल भगवाकरण का प्रयोग हिन्दूकरण से भिन्न अर्थ में नहीं होता। इनमें अन्तर इतना ही है कि हिन्दूकरण को आजकल इस नाम से पुकारे जाने वाले समाज की भी कुछ स्वीकृति मिली हुई है, जब कि भगवाकरण भारतीय संस्कृति से नफरत करने वालों के द्वारा थोपा गया शब्द है। ऐसे महानुभावों को इस्लामीकरण या ईसाईकरण जैसे शब्दों से कोई परहेज नहीं है, किन्तु जब भारतीयकरण के पक्ष में इस देश में कुछ होने लगता है, तो उसका विरोध करने के लिए वे भगवाकरण शब्द का प्रयोग करते हैं। तब उनके अन्तस्तल में कहीं न कहीं हिन्दूकरण शब्द ही कोंधता रहता है। उनका मन इतना संकीर्ण हो गया है कि भारतीयकरण की बात वे सोच भी नहीं सकते।

हमारे कम्युनिस्ट भाइयों की यह दृढ़ धारणा है कि इस्लामीकरण या ईसाईकरण की प्रक्रिया यहाँ भले ही चलती रहे, उससे इस देश का कुछ भी अहित नहीं होगा, किन्तु हिन्दूकरण अथवा भगवाकरण की प्रक्रिया से यह देश रसातल में चला जायगा। भारतीयकरण की प्रक्रिया के आधार पर यह देश सबल हो सकता है। यहाँ एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की स्थापना सुनिश्चित हो सकती है। शायद यह इनको अभीष्ट ही नहीं है। इसीलिए इस देश में जब-जब भारतीयकरण की प्रक्रिया चालू होने लगती है, तब-तब वे नये नये शब्द गढ़-गढ़ कर इस प्रक्रिया को रोकने की भरपूर कोशिश करते हैं। आजकल भगवाकरण शब्द ऐसे लोगों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

इसकी शुरुआत भारतीय जनसंघ को महात्मा गांधी की हत्या से जोड़ने के साथ हुई है। आश्चर्य तब होता है, जब ''डिस्कवरी आफ इण्डिया'' के यशस्वी लेखक पं. जवाहरलाल नेहरू ने इस कार्य को अंजाम दिया और आचार्य नरेन्द्रदेव जैसे सुलझे विचारों के वाहक व्यक्ति के भटके हुए समाजवादी साथी भी कम्युनिस्टों के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के फंदे में जा फँसे। इस विषय में हमने बहुत कुछ लिखा है। उसको दुहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, किन्तु इतनी हमारी निश्चित धारणा है कि भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को हृदयंगम न कर पाना ही इसका मुख्य कारण है। हमारे आज के अधिकांश बुद्धिजीवी भारतीय संस्कृति को पाश्चात्य चश्मे से देखने के आदी हो चुके हैं। सुधारवादी आन्दोलनों के कारण भी कुछ नई विसंगतियाँ पैदा हुई हैं। इनके परिष्कार की आवश्यकता थी, किन्तु ऐसा हो नहीं पाया। परिणाम-स्वरूप भारतीय संस्कृति में उपनिषत् काल से जो उदारवादी दृष्टि पनपने लगी थी और भक्तों एवं सन्तों की परम्परा में

जिसका चूडान्त उत्कर्ष हुआ, ईसा-पूर्व प्रथम और ईसोत्तर प्रथम सहस्राब्दी में विकसित इस भारतीय साहित्य की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी गइ है, इस देश को मनुवाद और ब्राह्मणवाद जैसे शब्दों के मकड़जाल में फँसा दिया गया है।

ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी के माने जाने वाले पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य में मध्यमिका नगरी पर यवनों के आक्रमण की चर्चा मिलती है। इन यवन (यूनानी) आक्रमणकारियों ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था। मध्यमिका नगरी आजकल राजस्थान में चित्तौड़गढ़ के पास स्थित 'घोसुण्डी' के नाम से पहचानी गई है। यहाँ ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी का ब्राह्मी लिपि में लिखा शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमें सप्राकार वाटिका को भगवान् वासुदेव और संकर्षण को समर्पित करने की चर्चा है। पांचरात्र (वैष्णव) आगम की सात्वतसंहिता में इस तरह का विधान मिलता है। आज भी उत्तरभारत में पुष्कर और वृन्दावन के तथा दक्षिण भारत के वैष्णव मन्दिरों में इस विधान का पालन देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि घोसुण्डी में भगवान् वासुदेव और संकर्षण को जो सप्राकार वाटिका समर्पित की गई, उसमें सात्वतसंहिता में प्रदर्शित विधि का पूरी तरह से पालन किया गया था।

इधर विधवा या बेवा शब्द का प्रयोग न करने की मानवाधिकार आयोग की सूचना को बहुत प्रचार मिला है, किन्तु हम इस बात की अनदेखी कर देते हैं कि इसी सात्वतसंहिता में विधवा के लिये निःस्वामिका शब्द प्रयुक्त हुआ है (८.१४१) और भाष्यकार ने उसका अर्थ 'पूर्व सुमंगला' किया है। प्रस्तुत संहिता के उपोद्घात (पृ. ६८ टि.) में हमने सन् १९८१ में ही इस ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। यह कौन नहीं जानता कि भारतीय शास्त्रों में स्त्री, बालक और वृद्धों की हत्या को निषिद्ध घोषित किया गया है। प्राचीन भारत के इन उत्कृष्ट अवदानों की वापसी को हम भगवाकरण का नाम देकर किस मनोवृत्ति को उजागर करना चाहते हैं?

शैव आगमों में पंचब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध पंचमुख शिव के आजकल दो मन्दिर प्रसिद्ध हैं। पहला नाथद्वारा (राजस्थान) के पास एकलिंग जी का और दूसरा नेपाल की राजधानी काठमांडू में। पाशुपताचार्यों ने इनकी स्थापना की थी। पुराणों में २८ पाशुपत योगाचार्यों और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की नामावली मिलती है। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में दक्षिण उदधि (समुद्र) के तट पर स्थित पाशुपतों के प्रसिद्ध तीर्थ गोकर्ण की चर्चा की है। नेपाल के पशुपतिनाथ की पूजा आज भी इसी तीर्थ के निवासी पुरोहित करते हैं। शैवागमों की परम्परा में ही कश्मीर के ८-९ वीं शताब्दी के आचार्य सोमानन्द ने 'कालपादा' के एक वचन को उद्धृत किया है, जिसमें श्वपचों को भी शिवधर्म में दीक्षित करने का विधान है। 'कालोत्तर' के नाम से भी यह शिवागम प्रसिद्ध है। बौद्ध धर्म के प्रज्ञापारमिताशास्त्र की तरह इस

आगम के भी अनेक संस्करण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के बौद्धाचार्य पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में इस ग्रन्थ के साथ निःश्वाससंहिता का भी उल्लेख मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों की गणना २८ प्रसिद्ध सिद्धान्त शैवागमों में होती है। ईसाईकरण, इस्लामीकरण के साथ भगवाकरण को प्रचारित करने वाले महानुभावों का ध्यान हम विगत २५०० वर्षों में विकसित इस वैष्णव और शैव साहित्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।

इस प्रसंग में इण्डोनेशिया और कम्बोडिया से प्राप्त शिलालेखों और साहित्य का उल्लेख करना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। वहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में हिरण्यदाम नामक आचार्य की तथा उसके द्वारा भारत से ले जायें गये चार तन्त्र-ग्रन्थों की नामावली उपलब्ध है। उनमें से वीणाशिख नामक ग्रन्थ तो अब प्रकाशित भी हो चुका है। हालैण्ड के आगम-तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ० तून गान्द्रियान ने इसका सम्पादन किया है और वाराणसी के ही प्रसिद्ध प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास ने इसको प्रकाशित किया है। गणपतितत्त्व नामक एक अन्य ग्रन्थ का प्रकाशन भी वहाँ से उपलब्ध मातृकाओं के आधार पर हुआ है। प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् डॉ० रघुवीर ने दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में उपलब्ध संस्कृत ग्रन्थों की सूची विस्तृत विवरण के साथ प्रकाशित कराई थी। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने कम्बोडिया से प्राप्त शिलालेखों के आधार पर अपने ग्रन्थ ''स्टडीज इन तन्त्राज्'' में आठवीं से दसवीं शताब्दी तक कम्बोडिया के अंकोरवट और बोरोबुदुर के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव एवं शैव मन्दिरों को और इण्डोनेशिया के बालि द्वीप को भी हम भुला चुके हैं। अभी भारत के प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी बालि द्वीप की यात्रा पर क्यों गये थे? भारतीय पत्रकार इन स्थानों के साथ भारत के प्राचीन संबन्धों के विषय में कुछ भी प्रकाश न डाल सके। हमारी यह मनोवृत्ति सांस्कृतिक पराजय की सूचक है। यही मनोवृत्ति हमें भगवाकरण जैसे शब्दों को प्रचारित करने को बाध्य करती है।

पक्षी अपने दो पंखों के सहारे उड़ता है और उसकी पूँछ पतवार का काम करती है। भारतीय शास्त्रों में भक्ति और ज्ञान को पक्षी के दो पंखों के समान और योग को पतवार के समान बताया गया है। आकाशवाणी पर इसे हम यदा-कदा सुनते रहते हैं। इन्हीं के सहारे व्यक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़ता है। इसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में हम निगम और आगमशास्त्र की पक्षी के दो पंखों से और सन्त साहित्य की पक्षी की पूँछ से तुलना कर सकते हैं।

विश्व के पूरे धार्मिक तथा आध्यात्मिक साहित्य का इन तीनों में समावेश कर हम सांस्कृतिक क्षेत्र में सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। सूफी एवं ईसाई सन्तों का इस क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान रहा है, किन्तु इस्लाम को भरमाने में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की और ईसाई सन्तों के उपदेशों को विकृत करने में मिशनरियों की

विपरीत भूमिका रही है। इस्लामीकरण, ईसाईकरण की तर्ज पर हिन्दूकरण, भगवाकरण जैसे शब्दों को प्रचारित करने में हमारे कम्युनिस्ट भाईयों ने कम पराक्रम नहीं दिखाया है। इनके निराकरण के लिए उक्त त्रिविध साहित्य का निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। ब्रिटिश छद्मनीति तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मलिन हुई सेमेटिक धर्मों की सोच यह कार्य नहीं कर सकती। इसके लिए तो हमें सूफी और ईसाई सन्तों, अलबेरुनी जैसे अरब इतिहासविदों, अकबर और दाराशिकोह जैसे उदारचेता मुस्लिम राजनेताओं, जायसी जैसे महाकवियों और रसखान जैसे भक्तों के साहित्य के और संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के प्राचीन साहित्य के साथ भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं में निबद्ध सन्त साहित्य का गहन अध्ययन करना होगा। आदिवासियों और जनजातियों में अब भी सन्तों के उपदेशों की गूँज मिटी नहीं है। इन उपदेशों को पुनः सुव्यवस्थित करना होगा। हीनभावना से ग्रस्त होने के कारण और सही मार्ग का चयन न कर पाने के कारण यह काम हम नहीं कर पा रहे हैं।

भगवाकरण शब्द अच्छाई में भी बुराई खोज लेने की मानसिकता को उजागर करता है। अधिसंख्य भारतीय प्रजा को इससे मुक्ति दिलानी है। इस्लामिक उदारवाद को आज फिर से जगाने की आवश्यकता है। सबसे बड़ा काम परिवर्तन से डरने वाले मुल्ला-मौलवियों और धर्म के क्षेत्र में अर्थ को आगे लानेवाले मिशनरियों के चंगुल से भारतीय प्रजा को मुक्त कराने का है। यह कैसे संभव होगा ? इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है। भारतीयकरण की प्रक्रिया से ही यह संभव हो सकेगा। भगवाकरण के नाम से प्रचारित किये जाने वाले विचारों की भी कितनी निष्पक्षता से समीक्षा की गई है, इस विषय पर हमें ब्रिटिश एवं अमेरिकन विद्वानों के विचारों के साथ कम्युनिस्ट विचारकों की तथा अन्य यूरोपीय मनीषियों के विचारों की अलग-अलग समीक्षा करनी होगी। भारतीय प्रशासन सेवा और तथाकथित बुद्धिजीवियों का गला जब तक नेकटाई से बँधा रहेगा, तब तक यह कार्य नहीं हो सकता।

●●●

बेचारा हिन्दू पिस रहा है

इस विषय पर हम अपने विचार अनेक स्थलों पर प्रकट कर चुके हैं कि **हिन्दू** शब्द हमारा अपना नहीं है, यह हमारे ऊपर थोपा गया है। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में इसकी कहीं भी चर्चा नहीं मिलेगी, किन्तु आज कल हम ''गर्व से कहो हम हिन्दू हैं'' नारे को लगाने के लिए बेताब हैं। कुछ पत्रकार भी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय की दुहाई देकर हिन्दू शब्द की सार्वभौमिकता का बखान करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आज पूरी दुनिया ही नहीं, भारत में रह कर पुष्ट हो रहे अनेक राजनैतिक दल और जातियाँ भी इस शब्द से नफरत करती हैं। दुनिया की अत्यन्त निकृष्ट विचारों की वाहिका जाति के लिये इस शब्द का प्रयोग हो रहा है। स्वामी विवेकानन्द, डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे मनीषियों के द्वारा चेताये जाने पर भी हम इस अशुभ शब्द से मुक्ति पाने की कोई चेष्टा नहीं कर रहे हैं।

महात्मा गांधी अपने को सच्चा सनातनी मानते थे। उनके अनुयायी काका कालेलकर ने लिखा है कि दुनिया के प्रधान छः धर्मों में सबसे पुराना है वैदिक धर्म, जिसको आगे जाकर हम कहने लगे **सनातन धर्म** और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया, **हिन्दू धर्म**। महान् विचारक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा था कि इसको यदि हम कोई एक नाम देना चाहें, तो वह होगा **सनातन धर्म**। अधिसंख्य भारतीय प्रजा को, अपनी और अधिक दुर्गति से बचाने के लिए, जब तक दूसरा उपयुक्त शब्द नहीं खोज लिया जाता, **हिन्दू** के स्थान पर **सनातनी** शब्द को आदरपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए। मुसलमान के साथ मिलकर यह हिन्दू शब्द आँज उस स्थिति में पहुँच गया है, जो स्थिति कभी इस भारत में ''श्रमण-ब्राह्मणम्'' शब्द की थी।

आजकल भारत में धर्म-निरपेक्षता शब्द की भी चर्चा है। हिन्दू शब्द के समान हम इस शब्द की भी अनेक स्थलों पर समीक्षा कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि जब तक हम 'सेक्युलर स्टेट' शब्द का सही अनुवाद न कर लें, तब तक मूल अंग्रेजी शब्द का ही व्यवहार करें, किन्तु अब हम देखते हैं कि भारत में इस शब्द ने अपना मूल्य खो दिया है। आज इस राष्ट्र के साथ गलत व्यवहार करने वालों को सेक्युलर और उसके लिये मर-मिटने वालों को साम्प्रदायिक कहा जा रहा है। देश का विभाजन करा देने वाली मुस्लिम-लीगी मानसिकता वाले और उनको पुष्ट करने वाले राजनीतिज्ञ तथा तथाकथित बुद्धिजीवी सेक्युलर! कहलाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामिक आतंकवाद का संचालन करने वालों से क्या इनकी दृष्टि भिन्न है?

राष्ट्रवादी ताकतों को साम्प्रदायिक बता कर यह सेक्युलरी! तपका कैसे उनको उखाड़ फेकने में लगा है, इसकी बानगी हम अभी देश के चार राज्यों में, विशेष कर उत्तरप्रदेश के चुनावों की प्रच्छन्न या प्रकट गतिविधियों में देख सकते हैं। उत्तरप्रदेश की जनता ने भारतीय जनता दल को नकार दिया, ऐसा सभी चुनाव-विश्लेषकों का मत है। इससे बढ़कर मिथ्या धारणा दूसरी क्या हो सकती है? मतदाता सूची और पहचान पत्र की गड़बड़ियों की चर्चा हम न करें, तो भी इस्लामिक संस्थाओं के द्वारा भारतीय जनता दल के प्रत्येक प्रत्याशी के खिलाफ कहाँ-कहाँ किसको वोट देना है, उनकी नामावली पूरे मनोयोग से प्रचारित की गई थी। यह तो ईश्वर की ही कृपा है कि उनका यह षड्यन्त्र पूरी तरह से सफल न हो सका। ऐसा करके क्या निष्पक्ष मतदान की हत्या नहीं की गई? क्या चुनाव आयोग ने इस पर ध्यान दिया? हम समझते हैं कि प्रसिद्ध स्तंभलेखक श्री भानुप्रताप शुक्ल के सिवा अन्य किसी ने भी, भाजपा के स्तंभलेखक श्री दीनानाथ मिश्र ने भी इस पर कतई ध्यान नहीं दिया कि यह चुनाव के नियमों के विपरीत कार्य था।

यह हिन्दू मानसिकता की ही विशेषता है कि जिस चीज का प्राथमिकता के आधार पर विरोध होना चाहिये, समय रहते उसको वह नहीं कर पाती। राष्ट्र का चतुर्थ स्तंभ किसकी प्रेरणा से उनके खिलाफ अनर्गल प्रचार कर रहा है, इसको जानने की उनको फुरसत नहीं है। अपने सहयोगी दलों को भी भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट अवदानों से यह परिचित नहीं करा पाती। वास्तव में देखा जाय, तो भारत में आजकल दो विपरीत संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा है। सेमेटिक संस्कृति भारतीय संस्कृति को मिटा देना चाहती है। पूरी दुनिया में यह प्रचारित किया जा रहा है कि आर्य बाहर से आकर यहाँ उसी तरह से बस गये, जैसे इधर इस्लाम या ईसाइयत ने यहाँ प्रवेश किया। भारत के लिए ये सभी आक्रामक हैं। पहले आये आक्रामक को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह अपने संस्कारों को ही भारतीय संस्कृति का नाम दे। आर्यों ने जैसे द्रविड़ संस्कृति को नष्ट कर अपना वर्चस्व स्थापित किया, उसी तरह सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों को भी यह अधिकार है कि वे आजकल भारतीय संस्कृति के नाम से प्रचारित की जा रही संस्कृति को भी मिटा दें। भारत में आजकल का संस्कृति-संघर्ष इसी उद्देश्य से चलाया जा रहा है और इसके लिए भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट अवदानों को तिरस्कृत कर बाहरी और भीतरी आतंकवाद, धर्मपरिवर्तन जैसी विधाओं को प्रयोग में लाया जा रहा है।

पं. नेहरू की भाँति लोकैषणा में डूबे वाजपेयी जी को यह तो समझ में आ रहा है कि भारतीय जनता ने भाजपा को सजा दी है, उनकी दृष्टि अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को तो देख रही है, किन्तु उसी के भारतीय संस्करण को वे देख-सुन नहीं पा रहे हैं,

जिसके कारण यह सब कुछ हुआ है। भोले बाबा! बाहर ही मत ताकिये, देश के भीतर भी देखिये कि कहाँ-कहाँ, कौन-कौन, क्या-क्या कर रहा है? एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र की तहत इस देश की भोली-भाली प्रजा को विपथगामी बनाने की कितनी गहरी साजिश हो रही है? आतंकवाद को पालने-पोसने वाले पाकिस्तान को अमेरिका किसी खास दृष्टि से क्यों देखता है? यह भारतीय संस्कृति के संरक्षकों के लिए एक विचारणीय विषय है। अधिकांश अंग्रेजी एवं भाषाई पत्रों में एवं अनेक राजनेताओं के वक्तव्यों में भारतीयता के प्रति तिरस्कार और सेमेटिक धर्मों तथा उनके अनुयायियों के प्रति सत्कार की भावना के प्रेरक तत्त्वों की कड़ी कहाँ से जुड़ी है? इसकी भी खोज होनी चाहिए। अयोध्या के श्री रामचन्द्रदास परमहंस जी के साथ आत्महत्या शब्द को और आतंकवादियों के साथ जेहादी शब्द को जोड़ना इसका एक छोटा-सा उदाहरण है। अपने को प्रगतिशील बुद्धिजीवी मानने वालों की दृष्टि भी इनसे भिन्न नहीं है।

इन दोषों के परिहार के लिए यह आवश्यक है कि मुसलमानों में सन् १८५७ के स्वतन्त्रता-संग्राम से ठीक पहले की भारतीय मानसिकता जगाई जाय और अन्य अधिसंख्य भारतीयों को आज से एक हजार वर्ष पहले के कश्मीर के आचार्य अभिनवगुप्त के समय तक विकसित सामाजिक मूल्यों से परिचित कराया जाय। इनसे अपरिचित रहने के कारण आज प्रगतिशील के नाम से पुकारे जाने वाले भारतीय बुद्धिजीवी भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को जान नहीं पाये हैं।

हिन्दू-मुसलमानों के संमिलित प्रयत्न से संचालित प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम का सामना करने के बाद ब्रिटिश छद्मनीति ने हिन्दू और मुसलमानों के लिए एक नीति निर्धारित की। उसकी अन्तिम परिणति पाकिस्तान के रूप में हुई, जिसकी परम्परा अभी तक रुकी नहीं है। अब तो वाजपेयी जी के मन्त्रिमण्डल में भी ये दिखाई पड़ जाते हैं। बी.बी.सी. कारसेवकों को हिन्दू आतंकवादी कहती है। मुस्लिम आतंकवादियों के साथ जोड़कर पूरी सेक्युलरी! मण्डली इनकी भी गिरफ्तारी की गुहार लगाती है। वाजपेयी जी को यह समझ लेना चाहिये कि इन सब विकृतियों का परिष्कार हुए बिना संस्कृतियों का यह संघष रुकने वाला नहीं है। बाबरी ढांचे के ढहाये जाने के दूसरे दिन हमनें ''सांस्कृतिक पुनर्जागरण अपेक्षित'' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था। वह अब हमारे निबन्ध-संग्रह ''भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप'' में प्रकाशित हो चुका है। उसमें हमने इसराइल की एक घटना की चर्चा करते हुए लिखा था कि क्या ऐसा भारत में संभव है? इधर के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने और दूसरे दिन किये गये संशोधन ने यह बता दिया है कि वर्तमान परिस्थिति में यहाँ यह संभव नहीं है। हम आदरणीय कांची शंकराचार्य जी का अपमान भले ही करवा लें, वर्तमान

मुस्लिम समाज को मध्यकालीन बर्बरता से निकाले बिना, किसी प्रकार के समझौते की आशा बालू से तेल निकालने के जैसी होगी।

इसके लिए हम इसराइल का रास्ता अख्तियार नहीं कर सकते हैं। किन्तु इस्लामिक आतंकवाद से दुनिया को छुटकारा दिलाने के लिए यह आवश्यक है कि संपूर्ण विश्व में फैले मध्यकालीन बर्बरता के चिह्नों, धार्मिक अतिक्रमणों को मिटा दिया जाय। ब्रिटिश और अमेरिकन छद्मनीति क्या इस पवित्र कार्य को होने देगी? बाहर की बात हम क्यों करें, जिस देश के पूर्व और वर्तमान प्रधानमंत्री, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश और महामहिम राष्ट्रपति तक भी भारतीय संस्कृति के सनातन स्वरूप से अनभिज्ञ हों, वहाँ इसके सिवाय क्या अपेक्षा की जा सकती है, जो आजकल भारत में हो रहा है। भारतीयों का दृढ़ संकल्प ही इस कार्य को पूरा कर सकता है। भारतीय संस्कृति ही वह अमृतस्रोत है, जो आज की अविश्वास, आतंक, संघर्ष आदि से ग्रस्त इस भौतिकवादी दुनिया को आध्यात्मिक शान्ति का संदेश देकर भयमुक्त कर सकती है।

भारत में रहने वाले सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों से हमारा निवेदन है कि वे धर्मान्तरण की घिनौनी प्रवृत्ति से मुक्त हों। परस्पर अविरोधी, अपने अपने धार्मिक कृत्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण करते हुए वे भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को जानने का भी प्रयत्न करें। विपक्ष के साथ शत्रुवत् व्यवहार करना इस्लामिक संस्कार हैं, जनतन्त्र की पद्धति नहीं। श्री मुलायम सिंह यादव जैसे राजनेताओं और कम्युनिस्टों को हम उदाहरण के रूप में पेश कर सकते हैं। अभी राज्यपाल के सामने अपना बहुमत सिद्ध करने का जब प्रसंग आया, तब यादव जी को कु. मायावती के साथ किये गये व्यवहार की अवश्य याद आई होगी। कु. मायावती तो बदली है, किन्तु यादव जी इस्लामिक हठवादिता से अपना पिण्ड अभी भी नहीं छुड़ा सके हैं।

अन्त में हम पूरे विश्व को पूरी दृढ़ता के साथ कहना चाहते हैं कि अयोध्या का प्रश्न धर्म से नहीं, विश्वसंस्कृति से जुड़ा है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की मर्यादा का पालन करते हुए ही यह दुनिया अमन-चैन से रह सकेगी।

●●●

बस भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति

भारत में समरस समाज की स्थापना की पहली आवश्यकता है धर्मपरिवर्तन की सभी प्रक्रियाओं पर पूर्ण प्रतिबन्ध और सांस्कृतिक आधार पर भारत के सभी वर्गों में पूर्ण सामंजस्य, अपनी-अपनी धार्मिक एवं पारम्परिक दृष्टियों का पूर्णतया अनुपालन करने के साथ समस्त भारतीय प्रजा में सहिष्णुता का अधिकाधिक विकास। पाकिस्तान या उससे भी अधिक खतरनाक मानसिकता के रहते यह कार्य असंभव सा लगता है, लेकिन हमें इसके लिए प्रयत्न तो अवश्य करना चाहिये। बाधक तत्त्वों का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिये।

इनमें सबसे पहला नाम आता है ब्रिटिश कुटिलनीति का, जिसने पाकिस्तान को जन्म दिया और बी.बी.सी. के माध्यम से उसकी यह कुटिलता आज भी चालू है। अब हम इसमें अमेरिका को भी शामिल कर सकते हैं। अभी हाल के गुजरात के दंगों पर इनकी काली छाया देखी जा सकती है। आश्चर्यजनक बात यह है कि आज की सोनिया-कांग्रेस और ब्रिटिश कुटिलनीति की प्रतीक बी.बी.सी. में इसके लिए होड़ मची हुई है कि भारतीयता में उदारता के क्षरण की और उसमें आतंकवाद के प्रवेश की अधिकाधिक चर्चा कर उसे बदनाम किया जाय। विभिन्न कम्युनिस्ट दलों और मेकाले के मानसपुत्रों, नेकटाई बांधे प्रशासकों और अधिकांश अंग्रेजी पत्रकारों की फौज जाने-अनजाने इनके साथ अपना नाम लिखवा रही हैं। राष्ट्रभक्तों की मुसलिम मानसिकता से ग्रस्त टोली इन सबमें भारतीयता का संचार नहीं करा सकती। विश्व की उदारतम विचारधारा की प्रतीक भारतीय दृष्टि ही इनमें परस्पर सहिष्णुता का संचार कर सकती है।

भारत में समय-समय पर वैदिक, बौद्ध, जैन, चार्वाक, वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, स्मार्त आदि धर्मों और सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव एवं विकास हुआ है। इन्हीं से अनुप्राणित अनेक मत-मतान्तर एवं पन्थ भी यहाँ प्रचलित हुए और इन सबमें परस्पर सामंजस्य भी स्थापित होता रहा। इतना ही नहीं, प्राचीन काल से ही एक अथवा दूसरे से प्रताडित यहूदी, ईसाई, पारसी जैसे धर्मों के अनुयायी जन अपनी सुरक्षा की दृष्टि से यहाँ आकर बसते गये हैं। इनके व्यक्तिगत या धार्मिक जीवन में यहाँ किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया और अभी हाल में चीन के आक्रमण से त्रस्त तिब्बती प्रजा के साथ अभी भी भारतीय उदारता में कोई कमी नहीं आई है। किन्तु हमारे ये सारे गुण आधुनिक मिथ्या प्रचार की आंधी में आँख-ओझल होते जा रहे हैं। ''सत्यमेव जयते'' का उद्घोषक यह देश सत्य की रक्षा में असमर्थ-सा लग रहा है।

इधर एक हजार वर्षों में इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म के अनुयायियों ने विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया। साम्राज्य के विस्तार के साथ अपने-अपने धर्म का विस्तार भी इनको अभीष्ट था। देश के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी धर्म-परिवर्तन के रूप में उनकी यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर चल रही है। इसके चलते भारत में समरसता आ ही नहीं सकती। भारतीय संस्कृति की सबके प्रति सहिष्णुता की दृष्टि ही इसमें सहायता कर सकती है। विगत एक हजार वर्षों में भी इसने यह कार्य किया है, इसने परस्पर की भेददृष्टि को कम करके समन्वय का पथ प्रशस्त करने का प्रयत्न किया है और सभी में आपस में सामंजस्य स्थापित करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। इधर हम देखते हैं कि भारतीय संस्कृति की यह जीवन्तता कुण्ठाग्रस्त होती जा रही है। इसके कारणों की खोज हमें करनी पड़ेगी।

यह बहुधा प्रचारित किया जाता है कि भारतीय संस्कृति अन्य बाहरी संस्कृतियों को हजम कर जाती है। इस्लामिक आक्रान्ता और उनके साथ आये मुल्ला-मौलबी इस प्रचार से अभिभूत हो इसके लिए सदा सचेष्ट रहे हैं कि युद्धों के माध्यम से प्राप्त भौतिक समृद्धि अन्तत: कहीं आध्यात्मिक आत्मसमर्पण में न बदल जाय। इसके लिए वे निरन्तर ऐसे उपायों का सहारा लेते रहे हैं, जिनसे आपस की दूरी सदा बनी रहे। हिन्दू-मुसलमानों के आपस के साम्प्रदायिक दंगों को इसके सशक्त माध्यम के रूप में हम देख सकते हैं। मुसलमानों के दैनिक जीवन को ऐसी प्रक्रियाओं से भर दिया गया है और अब भी भरा जा रहा है कि भारतीय समाज के साथ उसका सामंजस्य कभी बन ही न पावे।

वास्तव में देखा जाय तो मुसलमानों के सामने भारतीय संस्कृति का जो हौवा खड़ा किया गया है, उसका कोई आधार ही नहीं है। संस्कृति एक गतिशील प्रक्रिया है। इसमें निरन्तरता के साथ परिवर्तन का खेल भी संदा चलता रहता है। धर्मशास्त्रों के कलिवर्ज्य प्रकरण में अनेक वैदिक मान्यताओं को स्थगित कर दिया गया है। वैदिक ही क्या, अन्य बौद्ध, जैन आदि धर्मों का भी यदि हम सचेत अध्ययन करें, तो हम पावेंगे कि निरन्तरता के साथ परिवर्तन की यह प्रक्रिया वहाँ भी सतत गतिशील रही है। हमने अपने बृहद् ग्रन्थ ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त धर्मों की इस प्रक्रिया को उजागर करने का प्रयत्न किया है। इस्लाम के अनुयायियों को इससे सीख लेनी चाहिये। बुद्ध और महावीर के द्वारा की गई आलोचना के बाद वैदिक धर्म ने जैसे हिंसा को त्याग दिया, उसी तरह से भारतीय इस्लाम को भी भारतीय परिप्रेक्ष्य में अपने कालातीत कर्मकाण्डों को छोड़ देना चाहिये।

भारतीय समरसता के लिए केवल इस्लामिक कट्टरता (हठवाद) ही बाधक नहीं है, ब्रिटिश कुटिलनीति की भी इसमें सबसे निकृष्ट भूमिका है। हिन्दुओं और

मुसलमानों में दंगों की मानसिकता को बढ़ावा देने में इसकी बंदरबाट की नीति ने कमाल का काम किया है। एक रोटी के लिए झगड़ती दो बिल्लियों के बीच सुलह कराने में लगा बन्दर रोटी को तो हड़प ही जाता है, झगड़े के लिए वह दोनों को समान रूप से अपराधी भी घोषित कर देता है। यह मानसिकता भारत से आज भी गई नहीं है। मेकाले के मानसपुत्र आज उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह मानसिकता इन दोनों को कभी भी नजदीक आने देना नहीं चाहती। दो बिल्लियों के बीच बन्दर बनी ब्रिटिश कुटिलता अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में भी समर्थ हो गई और एक हजार वर्ष में विकसित दब्बूपन से दबी हिन्दू मानसिकता ने भारतीय संस्कृति में भी कुछ विकृतियों को जन्म दे दिया है। भारतीय बहुसंख्यक वर्ग को एक हजार वर्ष के सदोष संसर्ग से अपनी इस तरह की विकृतियों के परिहार के लिए सतत सचेष्ट रहना चाहिये और भारतीयता के उन चिरपुरातन अथच चिरनवीन गुणों से पूरी भारती प्रजा को लाभान्वित करना चाहिये, जिनके अभाव में आधुनिक अनेक राजनेतागण, प्रशासकवर्ग और बुद्धिजीवी भी भ्रम की स्थिति पाल रहे हैं।

पूरे भारतीय समाज में समरसता की स्थापना करना आज इस देश की सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके लिए सर्वप्रथम भारतीय प्रजा को ब्रिटिश कुटिलता से अपना पिंड छुड़ाना होगा और वास्तविक अपराधी को दंड देने की प्रक्रिया प्रारम्भ करनी होगी। भारत में प्राय: प्रतिदिन कुछ अराजक तत्त्व उपद्रव करते हैं। उसको जनता का आक्रोश मान लिया जाता है। यदि यह भीड़ मुसलमानों की है, तो इसकी ज्यादा संभावना रहती है और पत्रकार टोली उन्हीं की तरफदारी में दिलोजान से लग जाती है। मौलाना अब्दुल्ला बुखारी अपने को धर्मनिरपेक्ष और भारतीय जनता दल को सांप्रदायिक बताते हैं और आज का बुद्धिजीवी वर्ग इसका पूरा समर्थन करता है। ऐसे ही बुद्धिजीवियों का तो जमघट अभी कुछ दिन पहले अहमदाबाद में साबरमती आश्रम में हुआ था। कश्मीर की घाटी से कश्मीरी पंडितों को निकाल बाहर किया गया और अब जम्मू और लद्दाख की जनसंख्या के साथ प्रतिदिन खिलवाड़ किया जा रहा है। कुछ सिरफिरों का कहना है कि कश्मीर आज हमारी रगों में दौड़ रहा है। कल पूरा भारत भी उनकी रगों में दौड़ने लगेगा। क्या यह भारतीय प्रजा को ''हंस कर लिया है पाकिस्तान, लड़कर लेंगे हिन्दुस्तान'' विभाजन काल के इस नारे की याद दिलाने के लिए काफी नहीं है? अपने को धर्मनिरपेक्ष बताने वाले ऐसे सभी राजनीतिज्ञों की मानसिकता इनसे भिन्न नहीं है। क्या यह उचित हैं? क्यों अंग्रेजी पत्रकारिता पूरी तरह से अमानवीय होने पर उतारू हो गई है? क्या यह पत्रकारिता के सिद्धान्तों के अनुकूल है? क्या ये सब पैसे और प्रसिद्धि के लिए भारतीय समरसत्ता को गहरा दफना देने में नहीं लगे हुए हैं?

प्रसिद्ध स्तम्भकार कुलदीप नैयर ने प्रसिद्ध चिन्तक मार्टिन लूथर की इस उक्ति को उद्धृत किया था—''जिस दिन हम सचाई को देखकर भी बोलना नहीं चाहते, उसी दिन हमारी मौत की शुरुआत हो जाती है''। सत्य एक और अविभाज्य होता है। रंगीन चश्मा पहने हुए व्यक्तियों का सत्य अन्धों की कीगई हाथी की पहचान सरीख़ा है। पहले हमें भारतीय समरसता के सही स्वरूप को जानना होगा।

●●●

मालिनीमत की योगपद्धति

भूमिका

तन्त्रालोक (१.१८) ने त्रिकशास्त्र को १० शिवागमों, १८ रुद्रागमों और ६४ भैरवागमों का सार बताया है और कहा है कि इस त्रिकशास्त्र का सार मालिनीमत में संगृहीत है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए जयरथ (पृ. ४९) कहते हैं कि सिद्धा, नामक और मालिनी नाम के तीन खण्डों में विभक्त होने से इसे त्रिकशास्त्र कहते हैं। इसमें सिद्धातन्त्र क्रिया-प्रधान, नामकतन्त्र ज्ञान-प्रधान और मालिनीमत क्रिया-ज्ञानोभय-प्रधान है। नामक नाम का कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है, अतः हमने **वामक** नाम सुझाया था। इससे वामकेश्वरी मत का बोध हो सकता है। कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् राष्ट्रपतिसम्मानित पण्डित[1] श्री बलजिन्नाथ जी इससे सहमत हैं। सिद्धा पद से सिद्धयोगेश्वरी मत अभिप्रेत है। नेपाल में इसकी मातृका भी उपलब्ध है। तन्त्रालोक एवं विवेक आदि में उद्धृत इसके वचनों की यहाँ खोज होनी चाहिये। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३७.२५) में मालिनीमत को मालिनीविजयोत्तर के नाम से संबोधित किया है। इसी नाम से यह तन्त्र प्रकाशित भी हुआ है। इस पर अभिनवगुप्त ने वार्त्तिक लिखा था। वह भी प्रकाशित हो चुका है।

वार्त्तिक के सम्पादक का कहना है कि यह पूर्वाम्नाय का ग्रन्थ है। तन्त्रालोक एवं उसकी विवेक टीका तथा अन्य ग्रन्थों में भी पूर्वशास्त्र के नाम से मालिनीविजय के वचन अवश्य उद्धृत हैं, किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इसे परमेश के मुख से उद्धृत माना है। यहाँ बताया गया है कि तारकान्तक (स्कन्द) ने परमात्मा के अघोर स्वरूप से इसे प्राप्त किया था। आगे (श्लो. १९-२०) वर्णित आठ विज्ञानकेवलियों में से प्रथम का नाम भी अघोर है, अतः स्कन्द ने भगवान् शिव के दक्षिण वक्त्र अघोर से इस शास्त्र को प्राप्त किया, यही उचित लगता है। तन्त्रालोक (३७.२३-२४) में तन्त्रों के मण्डल, मुद्रा, मन्त्र और विद्या नामक चार प्रकार बताकर उनमें विद्यापीठ को श्रेष्ठ कहा है। सिद्धयोगेश्वरीमत प्रधान रूप से विद्यापीठ का तन्त्र है। उसके सार के रूप में उपदिष्ट मालिनीविजयोत्तर भी विद्यापीठ विभाग का ही तन्त्र माना जायगा। अघोर मुख से उपदिष्ट होने से यह दक्षिणाम्नाय का ही ग्रन्थ माना जा सकता है। हमारी समझ में चतुष्पीठ विभाग दक्षिणस्रोतम् के तन्त्रों का है। स्वच्छन्दतन्त्र (१.५) अपने को

---

१. ''कश्मीर की शारदा लिपि में न और व में इतना थोड़ा अन्तर है कि उसमें परस्पर भ्रम हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है''। ''संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास'' में प्रकाशित ''काश्मीर शैव दर्शन'' (पृ. २१८) देखिये।

चतुष्पीठ महातन्त्र कहता है। यह स्पष्ट ही भैरवतन्त्र है। बौद्धों के क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर तन्त्रों की तरह भैरव तन्त्रों के ये चार विभाग माने जा सकते हैं, जिनमें सिद्धयोगेश्वरीमत विद्यापीठ विभाग के अन्तर्गत आता है। इसी विभाग में मालिनीमत का भी समावेश होगा, अत: इसको पूर्वाम्नाय का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

अथवा मालिनीवार्त्तिक (पृ. १७) में अभिनवगुप्त ने ऊर्ध्वोर्ध्वस्रोतस् की चर्चा की है और ईशान वक्त्र से विनिर्गत द्वैतवादी सिद्धान्तशास्त्र की अपेक्षा अद्वयवाद के प्रतिपादक इस ज्ञान की श्रेष्ठता बताई है। ऊध्वोर्ध्व पद उसी का निदर्शक है। इस निबन्ध के प्रारम्भ में तन्त्रालोक के प्रमाण से त्रिकशास्त्र की श्रेष्ठता बताई गई है। इसके आधार पर हम इस तन्त्र को ऊर्ध्वोर्ध्वस्रोतस् से प्रवृत्त मान सकते हैं, जब कि पूर्वाम्नाय की प्रवृत्ति शिव के तत्पुरुष वक्त्र से मानी जाती है। इस निरूपण के आधार पर भी मालिनीमत को पूर्वाम्नाय का तन्त्र मानना हमें उचित नहीं लगता। तब इसे पूर्व-तन्त्र क्यों कहा गया? इस पर हमें अभी विचार करना होगा।

मालिनीमत, मालिनीविजय, मालिनीविजयोत्तर, मालिनीशासन, मालिनीशास्त्र और पूर्वशास्त्र—ये सभी नाम एक ही ग्रन्थ के हैं और परात्रीशिका की व्याख्या में उद्धृत मालिनीतन्त्र इससे अभिन्न है। इसी तरह से सिद्धयोगीश्वरीमत, सिद्धातन्त्र, सिद्धामत, सिद्धयोगीश्वर, सिद्धयोगेश्वर, सिद्धवीरावलीशास्त्र, सिद्धा, सिद्धागम, सिद्धातन्त्रशास्त्र, सिद्धामृत, सिद्धावीर—इन सभी नामों से भी एक ही तन्त्र स्मृत है और यह विद्यापीठ विभाग का ग्रन्थ है, इसके विषय में हम लुप्त. उपो. पृ. ५८ एवं ७६ पर बता चुके हैं।

यहाँ (श्लो. ८-११) बताया गया है कि सिद्धयोगेश्वरीतन्त्र पहले ९ करोड़ श्लोकों में उपदिष्ट था। उसको संक्षिप्त कर मालिनीविजय नामक तीन करोड़ श्लोक-प्रमाण का तन्त्र रचित हुआ। इसमें प्रधानत: योगमार्ग प्रदर्शित था। इसको भी संक्षिप्त कर भगवान् शिव ने १२ हजार श्लोक-प्रमाण के ग्रन्थ की रचना की। पार्वती भगवान् से प्रार्थना करती है कि अल्पबुद्धि वाले मनुष्य इसको भी धारण नहीं करने पाते, अत: इसे आप पुन: संक्षिप्त पर इसका उपदेश कीजिये। भगवान् अघोर ने इस प्रार्थना पर जिस तन्त्र का उपदेश किया, वही यह तन्त्र है। इसी भूमिका के साथ इस तन्त्र में वर्णित योग-प्रक्रियाओं का स्वरूप हम यहाँ स्पष्ट करने जा रहे हैं।

योग का लक्षण

योग का यहाँ (४.४) बहुत ही सामान्य लक्षण बताया गया है कि एक वस्तु के साथ दूसरी वस्तु की एकता स्थापित हो जाना ही योग है। चित्तवृत्ति के निरोध-रूप पातंजल योग के लक्षण से यह समरस नहीं है, किन्तु पुराण आदि में तथा विविध आगम-तन्त्रग्रन्थों में भी वर्णित जीवात्मा का परमात्मा के साथ एकत्वापादन-रूप योग

के लक्षण[२] से यह अभिन्न है। इसके लिये हेय एवं उपादेय वस्तु का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों ही स्वरूपों का बिना विवेचन किये, किसकी किसके साथ एकता होनी चाहिये, यह जानना कठिन है। इसीलिये भगवान् इन द्विविध रूपों का सही ज्ञान कराते हैं, उपदेश देते हैं और [३]सबीज योग की सिद्धि के लिए मन्त्र का स्वरूप भी बताते हैं। बिना दीक्षा के मन्त्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः भगवान् क्रिया और ज्ञान के भेद से द्विविध दीक्षा देते हैं।

चतुर्विध ज्ञानी एवं योगी

यहाँ ज्ञानमार्ग और योगमार्ग दोनों को मोक्षप्रदाता माना गया है[४] (४.२७) और आगे (श्लो. २८-४०) चार-चार प्रकार के ज्ञानियों और योगियों का स्वरूप बताकर योगी की श्रेष्ठता निरूपित है। इस प्रकरण में बताया गया है कि श्रुत, चिन्तामय और भावनामय के भेद से ज्ञान तीन प्रकार का है। शास्त्रों में[५] चारों तरफ फैले हुए ज्ञान को—इसका इतना अंश यहाँ है, बचा हुआ अंश वहाँ है, इसका कहाँ-कहाँ उपयोग होगा, इस तरह पूर्वापरभाव का पूरी तरह से विचार कर—व्यवस्थित रूप देना ही **श्रुत** ज्ञान[६] कहलाता है। **चिन्तामय** ज्ञान सामान्य और स्वभ्यस्त के भेद से दो प्रकार का है। चिन्तामय ज्ञान के स्वभ्यस्त हो जाने पर, उसकी परिपूर्णता की स्थिति में **भावनामय** ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी भावनामय ज्ञान के सहारे योगी योग के फल की प्राप्ति करता है। इस तरह से ज्ञान के भेद से ज्ञानी के चार भेद होते हैं।

संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सिद्धतम के भेद से योगी भी चार प्रकार के होते हैं। आणव, शाक्त और शांभव नामक त्रिविध समावेशों का स्वरूप मालिनीमत (२.२०-२३) बताया गया है। इस त्रिविध योग-परम्परा की क्रम से जिन्होंने शिक्षा प्राप्त कर

---

२. सात्वसंहिता के भाष्यकार अलशिंग भट्ट ने पांचरात्ररक्षा के प्रमाण से शांडिल्य, पराशर, दक्ष, याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा वर्णित योग के लक्षण दिये हैं (पृ. ११८-११९)। इनका विश्लेषण हमनें वहीं उपोद्घात (पृ. ४७-४८) में किया है। इस प्रसंग में हमारा ''वैष्णवागमविमर्शः'' (पृ. २५) भी देखिए।

३. सबीज योग के साथ यहाँ मन्त्र का संबन्ध वर्णित है। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि मालिनीमत को सगर्भ और निगर्भ नामक प्राणायाम भी अभिप्रेत हैं।

४. इससे पता चलता है कि मालिनीमत को ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद अभिप्रेत है।

५. इससे—''नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न च सर्वथा गोप्यमिति हि अस्मद्गुरवः'' (तन्त्रसार, पृ. ३१) अभिनवगुप्त की इस उक्ति को समर्थन मिलता है।

६. इस त्रिविध ज्ञान की चर्चा विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने भी कहीं की है। जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में पंचविध ज्ञान वर्णित है—''मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् (१.९)'' इनके भेदों-प्रभेदों का भी वहां किया गया वर्णन देखने योग्य है।

ली है, उन त्रिविध योगियों को **संप्राप्त** कहा गया है। तत्त्व से चलित[७] चित्त को जो योगी पुनः-पुनः तत्त्व की तरफ आकृष्ट करता रहता है, उसे **घटमान** कहते हैं। चित्त में तत्त्व के एक तात्त्विक स्वरूप के सिवाय किसी दूसरे विकल्प-जन्य स्वरूप का अवलम्बन न करने वाला योगी **सिद्ध** कहलाता है और चतुर्थ **सुसिद्ध** योगी वह है, जो किसी भी स्थिति में, जहाँ कहीं भी रहता हुआ अपने स्वरूप से कभी भी च्युत नहीं होता। वह सदाशिव के समान माना गया है। इन सबमें उत्तरोत्तर विशिष्टता मानी गई है। इन ज्ञानियों और योगियों में सुसिद्ध को सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि इसमें पूर्व जन्म के अभ्यास से संचित संस्कारों के कारण ज्ञान की स्वाभाविक रूप से स्थिति मानी गई है और यह स्वभ्यस्त ज्ञान ही [८]वर्तमान जन्म में उसकी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक बनता है।

योगाभ्यास की विधि

योगाभ्यास की विधि को यहाँ (१२.५-२०) संक्षेप में बताया गया है। [९]गुफा में, [१०]भूतल में अथवा सभी प्रकार की बाधाओं से रहित निःशब्द सुरम्य स्थान पर योगी को योगाभ्यास करना चाहिये। स्थिर आसन, स्थिर चित्त, प्राणजयी, जितेन्द्रिय, निद्रा पर नियन्त्रण रख सकने वाला, क्रोधजयी, उद्वेग से रहित, किसी भी प्रकार की व्यथा पर ध्यान न देने वाला व्यक्ति ही योगाभ्यास में समर्थ हो सकता है। लक्ष्यभेद अथवा चित्तभेद की प्रक्रिया से योगी पृथ्वी से लेकर शक्ति पर्यन्त तत्त्वों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में समर्थ हो सकता है। एक ही साध्य में अनुषंगवश जहाँ अनेक फलों की प्राप्ति हो सकती है, उसे[११] लक्ष्यभेद और जहाँ एक ही फल की प्राप्ति हो, उसे चित्तभेद कहते है।

---

७. ''यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥'' (६.२६) भगवद्गीता के इस वचन में भी चित्त की चंचलता को रोकने का यही उपाय बताया गया है, जब कि विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र आदि में सर्वत्र शिवमयता को देखते हुए मन की स्वच्छन्द गति पर किसी प्रकार के अवरोध का निषेध किया है।

८. ''अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'' (६.४५) भगवद्गीता के इस वचन में भी यह बात कही गयी है। तन्त्रशास्त्र की अन्य विविध शाखाओं में एक ही जन्म में मुक्ति की बात स्वीकार की गई है।

९. योगशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में पर्वताग्र, नदीसंगम, श्मशान आदि, इस तरह के अनेक स्थानों की सूचना दी गई है।

१०. साधना के लिए बनाये गये भूतल-स्थान को गणेशपुरी आश्रम में देखा जा सकता है।

११. लक्ष्यभेद और चित्तभेद की चर्चा मालिनीमत में अन्यत्र (१६.६६) भी हुई है, किन्तु उससे इस विषय पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हमें इस पर भी विचार करना पड़ेगा कि ये शब्द कहीं लक्ष्यवेध और चित्तवेध तो नहीं हैं? अभी इनका विशेष विवरण अपेक्षित है।

लक्ष्यभेद व्योम, बिन्दु, वर्ण, विग्रह, भुवन और ध्वनि के भेद से छः प्रकार का होता है। बाह्य, आभ्यन्तर और बाह्याभ्यन्तर के भेद से **व्योम** तीन प्रकार का है। **बिन्दु** एक ही है, किन्तु वह शुक्ल आदि के भेद से दशधा विभक्त हो जाता है। कदम्ब के फल के समान गोल आकार के इस बिन्दु का ध्यान चमकीले तारे के रूप में किया जाता है। **ध्वनि** भी चिंचिणी,[१२] चीरवाकी आदि के भेद से दस प्रकार की होती है। **विग्रह** के स्थूल और सूक्ष्म के रूप में दो मुख्य भेद हैं। बाद में इसके अनन्त प्रकार हो जाते हैं। **भुवनों** की कोई संख्या नहीं है। **वर्णों** की संख्या पचास मानी गई है।

चित्तभेद की प्रक्रिया इस प्रकार वर्णित है—आचार्य जिस शिष्य को सिद्धि-लाभ की योग्यता से सम्पन्न समझता है, उसे वह पहले होम, दीक्षा आदि के द्वारा विशुद्ध करे और उसे त्रिविध समावेश की प्रक्रिया समझावे। उसके दोनों हाथों पर परा बीज[१३] का न्यास कर [१४]महामुद्रा के प्रयोग से पादाग्र से मस्तक पर्यन्त उसके सारे शरीर में अग्निशिखा के समान प्रज्वलित शक्ति के संचार की भावना करे[१५]। इस प्रकार शक्ति से सम्पन्न हुए शिष्य को नमस्कार करे। बाद में अपने हृदय में प्राणशक्ति का निरोध कर महादीप्ति-सम्पन्न परा बीज के स्वरूप का ध्यान करे। [१६]क-खत्रय से विनिर्गत तीन मात्राओं का ध्यान करे। ऐसा करने पर साधक सौ[१७] तालों की दूरी से भी समाविष्ट

---

१२. चिंचिणी आदि दशविध ध्वनियों का परिचय तन्त्रालोक (५.९७-१००) से प्राप्त किया जा सकता है।

१३. परा न्यास का प्रकार योगिनीहृदयदीपिका (पृ. २७४) में बताया गया है। इसकी गुह्यता को भी वहाँ प्रदर्शित किया गया है।

१४. महामुद्रा का लक्षण मालिनीमत (७.१३-१४) में ही दिया गया है। इस ग्रन्थ के सप्तम मुद्राधिकार में त्रिशूल, पद्म आदि अनेक प्रकार की मुद्राओं का लक्षण बताया गया है। इनमें अंगुलि-विरचनात्मक एवं अंगविक्षेप रूप द्विविध मुद्राओं का समावेश है।

१५. दीक्षा-संस्कार के अवसर पर गुरु शिष्य के पाशों का छेदन करने के लिए उसके शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रक्रिया का वर्णन सिद्धान्तसारावलि (पृ. २९) में किया गया है। नेत्रतन्त्र (२०.२८-२९) की व्याख्या करते हुए क्षेमराज ने कल्लट की तत्त्वार्थचिन्तामणि में प्रदर्शित गोलक विधि का निरूपण किया है (पृ. १९९)। यहाँ बताया गया है कि इस विधि से शिष्य के पुर्यष्टक से अभेद स्थापित हो जाता है। सूक्ष्मागम के परिशिष्ट में संगृहीत पाठ (२.१५५) में गोलक न्यास का विधान भी इसी प्रक्रिया से संबद्ध लगता है।

१६. "के शिरसि खत्रयं शक्ति-व्यापिनी-समनारूपमाकाशत्रयं भ्रूबिन्दोः प्रभृति यावद् ब्रह्मरन्ध्रं संस्थितम्। तत्र मनोऽवष्टभ्य ख-त्र्यैयेणोर्ध्वगमनाय प्रेरयेत्" यह टिप्पणी शिवसूत्रविमर्शिनी (पृ. ५८) में दी गई है। तन्त्रालोक (५.९०-९४) में दशविध ख का विवरण मिलता है।

१७. "प्रादेशतालगोकर्णास्तर्जन्यादियुते तते" (२.६.८३) अमरकोश के इस वचन में प्रादेश, ताल और गोकर्ण का मान निदर्शित है। अंगूठे के साथ तर्जनी, मध्यमा और अनामिका को फैलाने से ये बनते हैं।

हो सकता है। एक सप्ताह पर्यन्त प्रतिदिन इसका अभ्यास करने से साधक ब्रह्महत्या जैसे पापों से भी मुक्त हो जाता है। इस पद्धति से त्रिविध समावेश से सम्पन्न हो जाने पर साधक बाद में गुरु के द्वारा उपदिष्ट विधि का जीवन-पर्यन्त आचरण करता रहे।

अवस्थापंचक

मालिनीमत (२.२६-२९) में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत नामक पाँच अवस्थाओं का विवेचन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि [१८]स्वरूप, शक्ति और सकल ही जाग्रदवस्था है। स्वप्न और सुषुप्ति में प्रलयाकल और विज्ञानाकल की, मन्त्र (शुद्धविद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर) और मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) की स्थिति तुर्यावस्था में और शक्ति एवं शिव की स्थिति तुर्यातीत अवस्था में है। द्वितीय अधिकार के प्रारम्भ (श्लो. २-७) में तत्त्वों को १५, १३, ९, ७, ५, ३ संख्याओं के वर्गों में बाँटा गया है और यहाँ (श्लो. २६-३६) इनमें से प्रत्येक भेदों में इन पाँच अवस्थाओं की व्याप्ति बताई गई है एवं कहा गया है कि इन्हीं पाँच अवस्थाओं में समाविष्ट योगी को पिण्डस्थ आदि पारिभाषिक शब्दों से समझाया गया है।

पिण्डस्थादि-पंचक

इसी प्रकरण में आगे (२.३६-४६) बताया गया है कि पिण्डस्थ और सर्वतोभद्र का जाग्रदवस्था में, पदस्थ और व्याप्ति का स्वप्नावस्था में, रूपस्थ और महाव्याप्ति का सुषुप्त्यवस्था में, प्रचय और रूपातीत का तुर्यावस्था में तथा महाप्रचय का तुरीयातीतावस्था में समावेश माना गया है। तत्त्वों के आधार पर भी इनका विभाजन किया गया है। इनमें तत्त्वों की व्याप्ति इस प्रकार है—भूत-तत्त्वों के अधिष्ठाता पिण्डस्थ तथा अन्य के पदरूप हैं। मन्त्र, मन्त्रेश और मन्त्रमहेश्वर रूपस्थ, सव्यापार होने पर भी अनामय शक्ति रूपातीत तथा निष्प्रपंच, निराभास, शुद्ध, स्वयं अपने आपमें प्रतिष्ठित, सर्वातीत शिव महाप्रचय-स्वरूप हैं। पिण्डस्थ अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध के भेद से चार प्रकार का, पदस्थ गतागत, सुविक्षिप्त, संगत और सुसमाहित के भेद से, रूपस्थ उदित, विपुल, शान्त और सुप्रसन्न के भेद से और रूपातीत मनोन्मन, अनन्त, सर्वार्थ और सततोदित के भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं।

आगे कुलचक्र की पूजा के प्रसंग (१९.३०-४८) में पिण्डस्थ के चार भेदों का विवरण देते समय अबुद्ध को छोड़ दिया है। उसका अभिप्राय यही हो सकता है कि इस योगिक प्रक्रिया में अप्रविष्ट व्यक्ति अबुद्ध है। दीपशिखा की आभा के समान

---

१८. इन दो शब्दों का परिचय अपेक्षित है।

आकृति वाले [१९]कुलचक्र की जिसमें अभिव्यक्ति हो जाती है, वह बुद्ध कहलाता है। इसके बाद इसमें अकस्मात् [२०]महामुद्रा की उपलब्धि के साथ शृंगार, वीर, करुणा आदि रसों की अनुभूति होने लगती है। इसी स्थिति को पिण्डस्थ की प्रबुद्ध दशा कहा जाता है। इस स्थिति का बहुत दिनों तक अभ्यास करने के बाद धरा (पृथिवी) आदि तत्त्वों की जब इसको स्वरूपोपलब्धि हो जाती है, तो वह पिण्डस्थ की सुप्रबुद्ध स्थिति मानी जाती है।

इस मानव शरीर के नाभिचक्र में ७२ हजार नाडियाँ संपिण्डित हो जाती हैं, अत: इसे पिण्ड कहा जाता है। इसमें जिसका निवास है, वह पिण्डस्थ कहलाता है। जब उसे तत्त्व के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तो उसे पदस्थ कहा जाता है। समस्त अकल्याण को नष्ट कर दृष्ट फल देने वाले शिव के स्वरूप को रूप नाम दिया गया है। इस रूप का भ्रूमध्य में साक्षात्कार करने वाला योगी रूपस्थ कहलाता है। रूपातीत का स्वरूप ऊपर बता दिया गया है। सिद्धयोगेश्वरीमत के अनुसार कुलचक्र की व्याप्ति यहाँ संक्षेप में बताई गई है।

शाक्त एवं शिवज्ञान के प्रसंग (२०.१-२६) में भी यह विषय यहाँ चर्चित है। सामान्य रूप से **पिण्ड** शरीर को कहा जाता है। शक्ति और शिव का यह शरीर ब्रह्मानन्दमय, बल, तेज, वीर्य और ओज नामक गुणों से व्याप्त है। इस स्वरूप का ज्ञान जिससे होता है, उसे **पद** कहा जाता है। इसके आगे योगाभ्यास के चलते रहने पर शिवस्वरूप की अभिव्यक्ति हो उठती है। इसी स्थिति को **रूप** कहा जाता है। यह विनश्वर स्वभाव का है। इन्द्रियों के अविषय अविनश्वर स्वरूप की जब शाश्वत अभिव्यक्ति होती है, तो उसे **रूपातीत** अवस्था कहा जाता है।

स्थूल (भौतिक) और सूक्ष्म (आतिवाहिक) के भेद से **पिण्ड** के दो भेद हैं। इन दोनों प्रकार के पिण्डों से युक्त जीवों में अभी वासना बनी रहती है। इस तरह के विज्ञानकेवल पर्यन्त जीव **पदस्थ** कहलाते हैं। पदभाव से विनिर्मुक्त होने पर भी अभी स्वल्प मात्रा में इनमें उसका अनुवर्तन चलता रहता है। साथ ही अपना स्वरूप भी प्रकाशित होने लगता है। यही अवस्था **रूपस्थ** कहलाती है। इसी क्रम से योगाभ्यास के आगे बढ़ने पर चित्त जब परिपूर्ण रूप से शुद्ध हो जाता है, तो वह चरम स्थिति **रूपातीत** कहलाती है। संवित्ति और फल के भेद से यहाँ इन चारों अवस्थाओं के चतुर्विध भेदों का स्वल्प परिचय दिया गया है। अन्त में यहाँ बताया गया है कि प्रथम

---

१९. मालिनीमत का 19वां कुलचक्राधिकार देखिए।

२०. चौदहवीं संख्या पर दी गई टिप्पणी की महामुद्रा से इसकी स्थिति भिन्न होनी चाहिये। बौद्ध तन्त्रों में निर्दिष्ट महामुद्रा से इसकी तुलना की जा सकती है।

तीन अवस्थाओं का अभ्यास करने वाला सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करता है और चतुर्थ अवस्था का अभ्यासी रूपातीत स्वरूप से मुक्त होकर शरीर के त्याग के बाद तत्काल मुक्त हो जाता है।

यह सारा विषय तन्त्रालोक (१०.२२७-२८७) में भी पंचविध पद[२१] अथवा अवस्था के रूप में वर्णित है। यहाँ की विशेषता यह है कि जाग्रत् आदि और पिण्डस्थ आदि अवस्थाओं का, इनके सर्वतोभद्र आदि पर्यायों का तथा उनके भेदों का वर्णन एक साथ किया गया है। मालिनीमत में तुर्यातीत अवस्था का कोई भेद प्रदर्शित नहीं है। इसके लिए यहाँ (१०.२८२) बताया गया है कि तुर्यावस्था की चौथी दशा सततोदित की ही यहाँ भी व्याप्ति मानी जाती है। इसीलिये महाप्रचय को सततोदित दशा भी कहा जाता है। इस प्रकार तुरीयातीत अवस्था ही महाप्रचय अथवा सततोदित दशा है। इस अवस्था में पहुँच कर साधक निष्प्रपंच, निराभास, शुद्ध स्वात्मस्वरूप, सर्वातीत शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह महान् प्रकाशमय अनन्त पद है। सततोदित पद का अभिप्राय यह है कि यह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, अखण्ड रूप में सर्वत्र सदा प्रकाशित होता रहता है। इसके पर्याय के रूप में शास्त्रों में नित्योदित पद भी प्रयुक्त होता है।

उदित शब्द का अर्थ है ऊपर गया हुआ, उठा हुआ, उगा हुआ। नित्योदित का अर्थ है जिसका नित्य उदय ही हो। संसार में जिसका उदय होता है, वह अस्त भी हो जाता है। इस प्रकार की वस्तु को शान्तोदित कहते हैं। जिसका सदा उदय ही हो, जो कभी अस्त न हो, वह नित्योदित है। स्वसंवित्ति अथवा आत्मचेतना के प्रकाशन की ये स्थितियाँ होती हैं—शान्तोदित और नित्योदित। शान्तोदित वह स्थिति है, जिसमें आत्मचेतना का आविर्भाव होता है, किन्तु फिर उसका तिरोभाव भी हो जाता है। नित्योदित स्थिति में आत्मचेतना का सदा आविर्भाव बना रहता है, कभी तिरोभाव नहीं होता। आत्मा तो नित्योदित है ही, किन्तु उसमें हमारी संवेदना की स्थिति बराबर नहीं बनी रहती। शक्तिसंकोच के निरुद्ध हो जाने पर ही हमारी चेतना नित्योदित स्थिति में रहती है। प्रत्यभिज्ञाहृदय (१९-२० सू०) में नित्योदित समाधि की और उसमें प्राप्त होने वाली पूर्ण समावेश दशा की चर्चा इसी विषय को स्पष्ट करती है। तत्त्वप्रकाश-कार भोजदेव ने अपने मंगल श्लोक में भगवान् शिव के सततोदित स्वरूप का ही नमन किया है। सात्वतसंहिता और उसके भाष्य में परब्रह्म की दो दशाओं के रूप में इनका वर्णन मिलता है।

तन्त्रालोक (१०.२८८-३००) में आगे प्रत्यभिज्ञाकार के मत से जाग्रत् आदि की परिभाषा देकर इन दोनों लक्षणों का समन्वय किया गया है। इसके बाद (श्लो. ३०१-

२१. पांचरात्र आगम की सात्वतसंहिता और उसके भाष्य (पृ. ३१ आदि) में जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं को पदचतुष्टय बताया गया है।

३०९) पुनः मालिनीमत को उद्धृत कर बताया गया है कि एक ही शिव अवस्था के भेद से पंचधा विभक्त हो जाता है। तन्त्रालोक में यह सारा विषय तत्त्वाध्वा का विवेचन करते समय किया गया है।

योगिनीहृदय (३.१७६-१८१) में जप के प्रसंग में जाग्रत् आदि इन्हीं पाँच अवस्थाओं का लक्षण बताया गया है। वहाँ इस प्रसंग में पिण्ड आदि अवस्थापंचक की कोई चर्चा नहीं है। जाग्रत् आदि का लक्षण वहाँ इस प्रकार प्रदर्शित है—जिस अवस्था में दस इन्द्रियों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पांच कर्मेन्द्रियों) के द्वारा जागतिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उसे **जाग्रत्** अवस्था कहते हैं। जिसमें आन्तर चतुर्विध करण द्वारा व्यवहार की निष्पत्ति होती है, उसे **स्वप्नावस्था** कहते हैं। स्वप्नावस्था में विद्यमान अन्तःकरण की वृत्तियों का लय हो जाने पर सब इन्द्रियों का उपरम जिस अवस्था में होता है, उसका नाम **सुषुप्ति** है। सुषुप्ति की भावना का स्थान भ्रूमध्य-स्थित बिन्दु है। इस बिन्दु को हल्लेखा या ऊर्ध्व बिन्दु कहते हैं। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के हेतु नाद का आविर्भाव ही **तुरीय** का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद में इसकी भावना करनी चाहिये। **तुरीयातीत** अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। यह मन और वाणी से अतीत है, तथापि मन और वाणी का आभास देह में किसी न किसी तरह रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त रहती है।

अवस्थापंचक का सुन्दर विश्लेषण सिद्धान्तसारावलि के योगपाद (३.८) में मिलता है। यह ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी में अभी सन् १९९८ में प्रकाशित हुआ है। श्लोक इस प्रकार है—

> बाह्यान्तःकरणैरणोः स्वविषयज्ञानं तु जाग्रच्च तत्
> स्वप्नोऽन्तःकरणस्ववृत्तिविषयज्ञानं सुषुप्तिः परम्।
> देहे त्विन्द्रियवृत्तिहीनमवचोग्राह्या मतिस्तुर्यकं
> देहाक्षोपरतौ स्वचिन्मतिरथातीतं शिवत्वोदयः॥

मल से बद्ध आत्मा के श्रोत्र आदि बाह्य और मन आदि आन्तर इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषय शब्द आदि का ज्ञान होता है। यह **जाग्रदवस्था** कही जाती है, अर्थात् इस अवस्था में जीव पहले आन्तर इन्द्रियों से और तब बाह्य इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। केवल आन्तर इन्द्रियों की वृत्तियों की सहायता से प्राप्त विषयों का ज्ञान **स्वप्नावस्था** कहलाती है। इसके आगे अन्तःकरण को भी छोड़कर चित्तमात्र की जहाँ स्थिति रह जाती है, वह गाढ़ निद्रा रूप तीसरी **सुषुप्ति** अवस्था कहलाती है। शरीर में बाहर-भीतर की इन्द्रियों की प्रवृत्ति से शून्य, वागिन्द्रिय की अगोचर बुद्धि को **तुरीयावस्था** कहा गया है। शरीर में रह रही समस्त इन्द्रियों के साथ प्राणों की भी

चलनरहित विश्रान्ति हो जाने के बाद स्वात्मचैतन्यमात्र की स्थिति ही **तुरीयातीत** अवस्था है। इसके बाद निर्मल आत्मस्वरूप का, परमसाम्यापत्ति नामक शिवदशा का उदय हो जाता है।

इस श्लोक की व्याख्या में अचिन्त्यागम और ईशानगुरु के वचनों को उद्धृत किया गया है। तदनुसार मुख में जाग्रदवस्था, हृदय में स्वप्नावस्था, नाभि में सुषुप्ति, बस्ति में तुर्यावस्था और लिंग में तुर्यातीतावस्था का निवास है। जाग्रदवस्था में श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके शब्द आदि पाँच विषय; वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और उनके वचन आदि पाँच व्यापार; प्राण-अपान आदि दशविध प्राणों; मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक चार अन्त:करण एवं क्षेत्रज्ञ नामक तत्त्व—ये सब मिलकर पैतीस तत्त्व सक्रिय रहते हैं।

स्वप्नावस्था में शब्द आदि पाँच, वचन आदि पाँच, प्राण आदि दस, चार अन्त:करण और क्षेत्रज्ञ—ये पचीस तत्त्व रहते हैं। जाग्रदवस्था में विषयों का ज्ञान भी होता है, किन्तु स्वप्नावस्था में मात्र इनकी स्फूर्ति होती है। तीसरी सुषुप्ति अवस्था में प्राण, चित्त और क्षेत्रज्ञ—ये तीन तत्त्व रहते हैं। तुर्यावस्था में प्राण और आत्मा ये दो ही तत्त्व तथा तुर्यातीतावस्था में मात्र आत्मा की ही स्थिति रहती है। ये पाँचों अवस्थाएँ मल से आवृत आत्मा की मानी गयी हैं।

इसके बाद निर्मल स्वात्मस्वरूप को शिव के साथ परमसाम्यापत्ति की प्राप्ति हो जाती है। ऐसे स्वात्मस्वरूप में समल जाग्रत् आदि अवस्थाओं की स्थिति नहीं रह सकती, अत: इनमें अमल जाग्रत् आदि अवस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं। इस स्थिति में बीजाक्षर का उच्चारण जाग्रदवस्था, बिन्दु-परिग्रह स्वप्नावस्था, नाद-संयोग सुषुप्ति अवस्था, शक्ति-समावेश तुर्यावस्था और परमशिव के तेज में, शान्त परमसाम्य रूप स्थिति में लीन हो जाना तुर्यातीतावस्था कहलाती है।

जाग्रत् आदि अवस्थाओं का परिचय अभी दियां गया है। इसी तरह जैन तन्त्र ज्ञानार्णव, योगिनीहृदय एवं उसकी दीपिका टीका, कौलज्ञाननिर्णय एवं गुरुगीता में पिण्डस्थ आदि अवस्थाओं की चर्चा है। इन ग्रन्थों में केवल चार ही स्वरूप निर्दिष्ट हैं। पंचम महाप्रचय दशा का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

जैन आचार्य शुभचन्द्र-रचित ज्ञानार्णव के ३४-३७ प्रकरणों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का वर्णन किया गया है। इनका संक्षिप्त परिचय वहाँ प्रस्तावना (पृ. ३२-३४) में दिया गया है। प्रथम पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना (मारुती), वारुणी और तत्त्वरूपवती नामक पाँच धारणाओं का विधान किया गया है। प्रथम चार धारणाएँ पृथ्वी आदि चार भूतों से सम्बद्ध हैं और पाँचवीं तत्त्वरूपवती धारणा में योगी सात धातुओं से रहित निर्मल सर्वज्ञ-सदृश उस आत्मा का स्मरण करता है, जो दिव्य अतिशयों से सुशोभित एवं कल्याण-महिमा से मंडित होकर दिव्य सिंहासन पर विराजमान है।

योगिनीहृदय में तीन स्थलों पर भिन्न-भिन्न रूपों में इनका वर्णन मिलता है। "**पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः**" (१.४२) यहाँ कन्द, पद, रूप और रूपातीत में क्रमशः कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ की आन्तर स्थिति मानी गई है। टीकाकार ने यहाँ कन्द का अर्थ पिण्ड, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति, पद का हंस, रूप का बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरंजन तत्त्व करके स्वच्छन्दसंग्रह के इस श्लोक को उद्धृत किया है—

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम्॥

टीकाकार ने यहाँ कहा है कि इन चार शब्दों से आधार, हृदय, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र नामक चार स्थानों का ग्रहण किया जाता है तथा इन्हीं चार आन्तर स्थानों में उक्त चार पीठों की स्थिति मानी गई है।

"**पिण्डरूपपदग्रन्थिभेदनाद् विघ्नभेदनम्**" (३.९१) यह द्वितीय उद्धरण है। यहाँ पिण्ड, पद, रूप और ग्रन्थि पद से पूर्वोक्त चार स्थान ही गृहीत हैं। ग्रन्थि शब्द रूपातीत का वाचक है। इन स्थानों में प्रविष्ट हो योगी भेददृष्टि-रूप आन्तर विघ्नों का अपसारण कर अद्वय चिन्मय धाम में प्रविष्ट हो जाता है। "**पिण्डादिपदविश्रान्ति**" (३.१३४) यह तृतीय उद्धरण है। टीकाकार ने यहाँ एक प्रामाणिक वचन[२२] को उद्धृत किया है—

पिण्डे मुक्ताः पदे मुक्ता रूपे मुक्ताः [२३]षडानन।
रूपातीते च ये मुक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः॥

इन दोनों उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि योगिनीहृदय में भी इन चारों दशाओं से अतीत प्रचयावस्था को बिना ही नाम के मान्यता दी गयी है।

नित्याषोडशिकार्णव की विद्यानन्द-कृत अर्थरत्नावली टीका (पृ. २४) में "पिण्डं कुण्डलिनी" इत्यादि श्लोक को मतोत्तर के नाम से उद्धृत किया है। यह ग्रन्थ वाराणसी से खण्डित रूप में गोरक्षसंहिता के नाम से प्रकाशित हुआ है। यावत् प्रकाशित अंश में यह उपलब्ध नहीं होता, किन्तु कुब्जिकामत[२४] (१८.१११-११२) में "**बिन्दुः समाख्यातं रूपातीतमनामयम्**" इस पाठभेद के साथ मिलता है। [२५]गुरुगीता (श्लो.

---

२२. मनुष्यकर्तृक ग्रन्थ को उद्धृत करते समय इस पद का प्रयोग किया जाता है, किन्तु "षडानन" शब्द से ऐसा लगता है कि यह दिव्य-परम्परा का ग्रन्थ है।

२३. गुरुगीता (श्लो. १२२) में "षडानन" के स्थान पर "वरानने" संबोधन है।

२४. कुब्जिकामत के दो संस्करण कुलालिकाम्नाय और षट्साहस्रीसंहिता के नाम से हालैण्ड (लीडेन) से प्रकाशित हुए हैं। षट्साहस्रीसंहिता के परिशिष्ट (पृ. २१०-२११) में दिया गया मालिनी और शब्दराशि शब्दों का परिचय मालिनीमत के प्रसंग में अवलोकनीय है। प्रस्तार और गह्वर पदों का स्वरूप भी यहाँ (पृ० १८१-२०९) विस्तार से प्रदर्शित है।

२५. गुरुगीता का हमारे हिन्दी भाषा-भाष्य के साथ प्रकाशन हो चुका है।

११९-१२२) के इन चार श्लोकों में भी इस विषय की चर्चा आई है। उनमें ऊपर उद्धृत दो श्लोक भी पाठभेद के साथ समाविष्ट हैं। वहाँ बताया गया है कि गुरु के ध्यान से इन चारों पदों से मुक्त हो साधक ब्रह्ममय बन जाता है।

कौलज्ञाननिर्णय में भी पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्दों का विवरण मिलता है। वहाँ एक जगह (पृ. ४) पिण्ड का अर्थ समान और दूसरी जगह (पृ० ९०) बद्ध आत्मा किया है। इसी तरह से इन्हीं स्थानों पर पद का अर्थ ध्यान तथा माया से मोहित जीव, रूप का अर्थ वर्ण और कलाविष्ट जीव तथा **रूपातीत का अर्थ लक्ष्य तथा काष्ठयोगी किया है।** अन्यत्र (पृ. ५३) इन सभी के आठ-आठ भेद वर्णित हैं। इनके नाम, लक्षण आदि की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। पिण्ड की यहाँ अनेक स्थानों पर चर्चा है, उन सभी स्थानों में मानव देह के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। मालिनीमत (१९.३६-३७) के प्रमाण से पहले बताया जा चुका है कि इस मानव शरीर के नाभिचक्र में ७२ हजार नाड़ियाँ संपिण्डित हो जाती हैं, अतः इसे पिण्ड कहा जाता है। इसमें जिसका निवास है, वह पिण्डस्थ कहलाता है।

मालिनीमत में अष्टांग अथवा षडंग योग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु अभिनवगुप्त नें षडंग योग के प्रसंग में—"योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम्" (१७.१८) मालिनीमत के इस वचन को उद्धृत कर योगांगों में तर्क की श्रेष्ठता स्थापित की है। षडंग योग के प्रकरण में इस पर वहाँ पर्याप्त विचार किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ षडंग योग का समर्थक है। तन्त्रागमशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में ही नहीं, षडंग योग का विवरण योग-सम्बन्धी कुछ उपनिषदों और भगवद्गीता के भास्कर-भाष्य में भी उपलब्ध है। तर्क के विषय में यहाँ कहा गया है कि वस्तु की हेयता और उपादेयता का निर्णय व्यक्ति इसीकी सहायता से कर सकता है और भावनामय ज्ञान की उपलब्धि भी इसीकी सहायता से होगी। इस परम ज्ञान की प्राप्ति के बाद व्यक्ति तत्काल समावेश दशा में प्रविष्ट हो जाता है।

तर्क की इस प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य योगांगों में केवल प्राणायाम, धारणा और समावेश के भेदों पर ही यहाँ सामग्री मिलती है। इनमें से पहले हम प्राणायाम के विषय में जो कुछ यहाँ मिलता है, उस पर विचार करते हैं।

प्राणायाम[२६] के यहाँ (१७.२-१३) पाँच भेद बताये गये हैं—पूरक, कुंभक, रेचक, आकर्षण और अपकर्षक। पूरक प्राणायाम के प्रथमतः दो प्रकार और ततः छः

---

२६. ऊपर की तीसरी टिप्पणी में यह बताया जा चुका है कि मालिनीमत प्राणायाम के सगर्भ-निगर्भ भेदों से सहमत है। विज्ञानभैरव (पृ. २९-३०) में प्राण और अपान की प्रक्रिया के आधार पर प्राणायाम के आठ भेद वर्णित हैं। हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम के **भस्त्रिका** आदि विविध प्रकार देखे जा सकते हैं। पुराण-वर्णित प्राणायाम के भेदों के लिए "कूर्मपुराणः धर्म और दर्शन" (पृ. २६५-२६७) देखें।

प्रकार यहाँ वर्णित हैं। स्वाभाविक रूप से शरीर के भीतर वायु का पूरण एक प्रकार और विरेचन[२७] के अनन्तर पूरण यह दूसरा प्रकार है। नासिका, मुख और ऊर्ध्व तालु—इन तीनों रन्ध्रों के माध्यम से उक्त विविध पूरक-विधियों को मिलाने से इसके छः भेद हो जाते हैं। कुंभक के पाँच भेद हैं। इनमें से एक पूरक के तत्काल बाद और दूसरा रेचक के तत्काल बाद होता है। इन दोनों प्रकारों के अन्त में पुनः दो प्रकार का कुंभक किया जाता है और पाँचवें प्रकार—स्वाभाविक कुंभक को योगी अपनी इच्छा के अनुसार कभी भी कर सकता है। पूरक के समान ही रेचक के भी पहले दो और बाद में छः भेद होते हैं। यहाँ बताया गया है कि इन तीनों प्राणायामों के बाद में अनन्त भेद हो जाते हैं। इन तीन प्राणायामों का वर्णन तो सर्वत्र मिलता है, किन्तु यहाँ प्रदर्शित इनके भेदों की चर्चा कहीं अन्यत्र नहीं मिलती।

किसी एक स्थान पर सीमित वायु को जब किसी अन्य स्थान पर खींच कर ऊपर ले जाया जाता है, तो उसे उत्कर्षक तथा पुनः खींच कर जब उसे पूर्व स्थान से नीचे ले जाया जाता है, तो उसे अपकर्षक प्राणायाम कहते हैं। इन दोनों के भी अनन्त प्रकार हैं। पद्मासन आदि पर बैठकर योगी को इनका अभ्यास करना चाहिए। एक उद्घात[२८] वाला प्राणायाम अधम, दो उद्घात वाला मध्यम तथा तीन उद्घात वाला उत्तम माना जाता है। इसका काल १२ मात्रा का होना चाहिये। तीन बार घुटनों पर हाथ फेर कर तीन बार चुटकी बजाने में जितना समय लगता हे, उसको [२९]मात्राकाल कहा जाता है। प्राणायाम के मात्राकाल में क्रमशः वृद्धि करनी चाहिए। ऐसा करने से वायुदोष की संभावना नहीं रहती। प्राणायाम के अभ्यास से वायु को शरीर के किसी भी अंग में धारण किया जा सकता है, किन्तु चक्षु-स्थान में ऐसा कभी नहीं करना चाहिए।

प्राणायाम के प्रसंग में ही यहाँ (१७.१३-१६) चतुर्विध धारणाओं का भी वर्णन मिलता है। उनके नाम हैं—[३०]शिखा (अग्नि), अम्बु (जल), ईशानी और अमृता।

---

२७. इस प्रसंग में सिद्धान्तसारावलि की प्रस्तावना (पृ. ६८) में की गई टिप्पणी देखिए। मालिनीमत की इस प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसंग के अनुसार रेचक प्राणायाम के ये दोनों क्रम योगशास्त्र में मान्य हैं।

२८. उद्घात का लक्षण मतंगपारमेश्वर के योगपाद (७.१-६) में और वहाँ दी गई टिप्पणी में विस्तार से दिया गया है। उद्घात की चर्चा पातंजल योगसूत्र (२.५१) के व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशारदी टीका में भी देखी जा सकती है।

२९. मात्रा के काल के विषय में भी ऊपर उद्धृत तत्त्ववैशारदी टीका में उसी स्थल पर देखा जा सकता है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (पृ. ११५ एवं १६७) में ताल अथवा मात्रा का द्विविध लक्षण सिद्धान्तशेखर, सर्वज्ञानोत्तर एवं कामिकागम के प्रमाण से प्रदर्शित है।

३०. आग्नेयी, वारुणी, ऐशानी और अमृता नाम की चार धारणाओं की संक्षिप्त सूचना अग्निपुराण (३७५.७) में मिलती है। मतंगपारमेश्वर के योगपाद (२.३७-६५) में इनका स्वरूप विस्तार से वर्णित है।

प्रथम दो धारणाओं स्वरूप यहाँ अन्यत्र बताया गया है, जिनका वर्णन हम आगे अलग से करने जा रहे हैं। ईशानी धारणा का स्वरूप बिन्दुनादात्मक है और अमृता में इन्दु (चन्द्रमा) पर धारणा केन्द्रित की जाती है। इनमें जिस किसी भी द्रव्य पर धारणा केन्द्रित की जाती है, उसकी सर्वत्र व्याप्ति हो जाती है। उन धारणाओं के सहारे योगी हेय वस्तु का त्याग कर उपादेय श्रेष्ठ पदवी तक पहुँच जाता है। ऊपर बताये गये योग के श्रेष्ठ अंग तर्क की सहायता से ही योगी हेय और उपादेय का निर्णय कर सकता है।

ऊपर वर्णित चार धारणाओं के अतिरिक्त मालिनीमत में पार्थिवी[३१] से लेकर बुद्धितत्त्व पर्यन्त चौबीस तत्त्वों पर की जाने वाली धारणाओं का स्वरूप १२वें अधिकार के २०वें श्लोक से लेकर १६वें अधिकार के १७वें श्लोक तक वर्णित है और १६वें अधिकार के २४वें श्लोक में बताया गया है कि जिस वेदान्त-विज्ञान को यहाँ संक्षेप में बताया गया है, उसीको पहले शिव ने कपिल मुनि को विस्तार से समझाया था।

१२वें अधिकार के शेष भाग (श्लो० २१-३९) में यहाँ पार्थिवी धारणा के विविध स्वरूपों का और उनसे प्राप्त होने वाले फलों का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी पद्धति से १३वें अधिकार में शेष चार भूतों की, १४वें अधिकार में पंच-तन्मात्राओं की, १५वें अधिकार में वाक् से लेकर मन पर्यन्त तत्त्वों की तथा १६वें अधिकार में अहंकार और बुद्धि तत्त्व विषयक धारणाओं की प्रक्रिया को विस्तार से समझाया गया है। इन धारणाओं का इतने विस्तार से वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

पुराणों में भी नाना रूपों में इन धारणाओं का वर्णन मिलता है। देवीभागवत का (७.३५.२२-२४) कहना है कि अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, मूलाधार, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ, लम्बिका, नासिका, भ्रूमध्य, मस्तक और द्वादशान्त स्थानों में पवन को स्थिर करना ही धारणा है। मार्कण्डेयपुराण में नाभि आदि दस स्थानों में तथा वायु, अग्नि आदि तत्त्वों में धारणा का विधान है (३८.४५-४६, ५६-६१)। सात सूक्ष्म धारणाओं की भी यहाँ (४०.१७-२८) चर्चा मिलती है। पाँच तन्मात्राओं, आत्मा और मन में ये सात सूक्ष्म धारणाएँ की जाती हैं। षडंग महेश्वर के साथ इन सात सूक्ष्म धारणाओं का विचार कूर्म (२.८.१२-१४), वायु (१२.१८-२३) आदि में भी देखा जा सकता है। नमूने के रूप में ये उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। ऊपर मालिनीमत में वर्णित आग्नेयी आदि चार धारणाओं की उपस्थिति अग्निपुराण में बताई गई है।

---

३१. मतंगपारमेश्वरागम के योगपाद (४.४०-११३) में **तत्त्वजय** के रूप में इन्हीं धारणाओं का वर्णन किया गया है। वहाँ की विशेषता यह है कि बुद्धितत्त्व के ऊपर स्थित प्रधान का भी समावेश किया गया है, जब कि मालिनीमत में बुद्धितत्त्व तक की ही धारणाएँ वर्णित हैं। प्रधान (प्रकृति) तत्त्व पर धारणा की वहाँ कोई चर्चा नहीं है।

आगमों की पद्धति से इन पुराणों में भी योगपद्धति का विवरण मिलता है। आगमों और पुराणों की इन योगविधियों का अनुशीलन करने से पता चलेगा कि इनमें बहुत कुछ समानता है। ऐसा भी हो सकता है कि ये दोनों जगह श्लोकों की समान आनुपूर्वी में वर्णित हो।

मालिनीमत (२.१३-२४) में रुद्रशक्ति-समावेश के प्रसंग में विविध समावेशों के १५० भेदों की चर्चा की गई है। यहाँ (श्लो. १४-१६) समावेश के जिन चिह्नों का वर्णन किया गया है, उनकी शक्तिपात के चिह्नों से बहुत समानता है। यहाँ समावेश शब्द समाधि दशा के अर्थ में प्रयुक्त है। इस रुद्रशक्ति-समावेश स्थिति के यहाँ भूत, तत्त्व, आत्मा, मन्त्रेश और शक्ति नामक पाँच भेद बताये गये हैं। पुन: भूत के पाँच, तत्त्व के तीस, आत्मा के तीन, मन्त्र के दस और शक्ति के दो भेद—इस तरह कुल मिलाकर पचास भेद चर्चित हैं और कहा गया है कि इसीके आधार पर आणव, शाक्त और शांभव नामक त्रिविध समावेशों के कुल १५० भेद हो जाते हैं। यहीं इन त्रिविध समावेशों के लक्षण भी बताये गये हैं, जो पूरे शैव दर्शन को मान्य हैं। तन्त्रालोक में इनका अतिविस्तार से अनेक आह्निकों में विशद परिचय दिया गया है। जाग्रत्, स्वप्न आदि पंचविध अवस्थाओं का तथा पिण्ड, पद आदि दशाओं का वर्णन भी यहाँ इन समावेशों के प्रसंग में ही दिया गया है, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

यहाँ के अनेक स्थल हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो पाते। जाग्रत् आदि अवस्थाओं की, पिण्डस्थ आदि दशाओं की और विविध धारणाओं की चर्चा के प्रसंग में ऊपर विविध मत प्रदर्शित हैं। इनमें से पिण्डस्थ आदि दशाओं के विषय से अनुशीलन अपेक्षित है कि इनकी इदंप्रथमतया प्रवृत्ति कुलशास्त्र में हुई या मतशास्त्र में। सिद्धयोगेश्वरीमत की मातृका उपलब्ध है। इसका सचेत सम्पादन होने से संभव है कुछ गुत्थियों को सुलझाया जा सके।

मालिनीमत मुख्यतः योगशास्त्र का ग्रन्थ है। पूरे ग्रन्थ में विविध रूपों में यह विषय प्रतिपादित है। यहाँ नमूने के रूप में कुछ विषयों का विश्लेषण अन्य ग्रन्थों की सहायता से किया गया है। इसीके साथ इस विषय को अब हम विराम देते हैं।

●●●

आगम साहित्य और उसका प्रामाण्य

पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा ने ''प्राचीन भारतीय विद्येचे पुनर्दर्शन'' के नाम से शताब्दी स्मारक ग्रन्थ सन् १९७८ में प्रकाशित किया था। उसमें ''आगम आणि तन्त्रशास्त्र'' शीर्षक हमारा निबन्ध भी समाविष्ट था (पृ० १८१-१९६)। बाद में ''आगम और तन्त्रशास्त्र'' के नाम से हमारा पहला हिन्दी निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हुआ। उसमें प्रकाशित ''आगम और तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन'' शीर्षक निबन्ध में ऊपर के निबन्ध के हिन्दी स्वरूप को भी स्थान दिया गया। इस निबन्ध में सर्वप्रथम हमने आगम-तन्त्रशास्त्र को विस्तार से परिभाषित किया था (पृ० १-६)। अब उसको यहाँ पुनः दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

यह हमें समझ लेना चाहिए कि आगम और तन्त्र दो भिन्न शास्त्र नहीं हैं। पांचरात्र मत की सात्वतसंहिता सात्वततन्त्र और पाद्मसंहिता पाद्मतन्त्र भी कहलाती है। लक्ष्मीतन्त्र भी पांचरात्र आगम का ही ग्रन्थ है। इसी तरह सिद्धान्त-शैवागम का मृगेन्द्रागम मृगेन्द्रतन्त्र और मतंगपारमेश्वरागम मतंगतन्त्र भी कहलाता है। तन्त्रागमशास्त्र की प्रायः सभी शाखा-प्रशाखाओं के विषयों के संग्राहक अपने ग्रन्थों को अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक और तन्त्रसार नाम दिया है। सिद्धान्तसारावलि की टीका (पृ० २८३-२८४) में उद्धृत कारणागम के वचनों में अट्ठाईस सिद्धान्त-शैवागमों के लिए आगम, संहिता और तन्त्र शब्दों का प्रयोग पर्याय के रूप में हुआ है। आगम, संहिता और तन्त्र के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्रायः एक-सरीखे विषय वर्णित हैं। शाक्त तन्त्रों को शाक्तागम भी कहा जाता है। वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें वैदिकी श्रुति त्रैवर्णिक-विषय और तान्त्रिकी श्रुति सर्ववर्ण-विषय है। इस प्रकार यहाँ का तान्त्रिक शब्द संपूर्ण आगमिक और तान्त्रिक साहित्य का संग्राहक है। इस पूरे साहित्य को हम आगम अथवा तन्त्र के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस प्रसंग में यह अवश्य कहा जा सकता है कि आगम नाम से जानी जा रही धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र के नाम से जानी जा रही धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। भारतीय[१] वाङ्मय में कहीं श्रुति के समकक्ष, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्रों के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

वैदिक साहित्य, पांचरात्र-पाशुपत मत, जैन-बौद्ध मत, पौराणिक साहित्य और सन्त साहित्य—यह है भारतीय साहित्य का विकासक्रम। कृतान्तपंचक के नाम से

---

१. प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने ''दि तन्त्राज : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर'' (कलकत्ता, सन् १९६३ ई०) नामक ग्रन्थ के ''प्लेस ऑफ दि तन्त्राज् अमोंग अदर शास्त्राज्'' नामक अध्याय (पृ० २९-३७) में श्रीमद्भागवत, वायुसंहिता, मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट, भास्करराय, मित्र मिश्र, मधुसूदन सरस्वती आदि के प्रमाणों पर इस बात को सिद्ध किया है।

प्रसिद्ध सांख्य-योग, पांचरात्र-पाशुपत और वेदारण्यक का पूरे परवर्ती साहित्य पर प्रभाव है और कबीर जैसे सन्तों की वाणियाँ भी इनसे अनुप्राणित हैं। यहाँ आन्तर उपासना पर, भावशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है। आगमीय दर्शन भी इसी भावना से उत्प्रेरित है। इसीलिये यहाँ शुष्क तर्क का कोई स्थान नहीं है। मालिनीविजय (१७.१८) में योग के अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना गया है, किन्तु यह स्थान शास्त्रानुमोदित तर्क को ही दिया गया है। निरुक्त, मनुस्मृति, महाभारत, ब्रह्मसूत्र, वाक्यपदीय जैसे ग्रन्थों में शुष्क तर्क को अग्राह्य बताते हुए आगमानुमोदित तर्क को प्रतिष्ठित किया गया है। इस शास्त्रानुमोदित तर्क के अनुसार सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान से संपन्न व्यक्ति भी सम्यक् चारित्र के अभाव में तर्कपद्धति का सही उपयोग नहीं कर सकता। ऐसे तार्किकों और दार्शनिकों को लक्षित कर के ही "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" इस तरह की लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। "अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः" इस वचन में नैषधकार ने आचार-संपन्न व्यक्ति को ही धर्मप्रचार का अधिकारी माना है।

तन्त्रागमशास्त्र में सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की सिद्धि के लिए ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या नामक पादों का विधान है। इनमें सम्यग् दर्शन की सिद्धि के लिए ज्ञान (विद्या) पाद का, सम्यग् ज्ञान के लिये योग पाद का और सम्यक् चारित्र के लिए क्रिया और चर्या पाद का विधान है। पादविभाग के न रहने पर भी शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रागमों में इस तरह के विषय सर्वत्र वर्णित हैं। इन सबमें यद्यपि क्रिया और चर्या संबन्धी विषयों का अधिक विस्तार है, तो भी साधक के लिए आवश्यक दार्शनिक दृष्टि का भी समुचित उपदेश किया ही गया है।

इस प्रसंग में हम अभिनवगुप्त और उनके शिष्य क्षेमराज की उक्तियों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (भा० १, पृ० ११) में अभिनवगुप्त कहते हैं कि इस तरह से अपने में उन्माद को जगाने वाली और दूसरों का अपमान करने वाली पंडिताई से हमें क्या लेना-देना है? स्पन्दनिर्णय (पृ० १६) में क्षेमराज कहते हैं कि सुकुमार हृदयवाले साधक-जनों में शास्त्रों के प्रति उपेक्षाभाव को जगाने वाली तर्क-कथाओं से हम दूर रहना चाहते हैं। हम देखते हैं कि आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में तर्क-वितर्क को जगाने वाली शास्त्रार्थ की पद्धति से दूर रह कर केवल अपने पक्ष की स्थापना पर जोर दिया गया है। पर-पक्ष के निराकरण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। उदाहरण के रूप में हमारे "आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टि-प्रक्रिया"[२] शीर्षक निबन्ध को देखा जा सकता है।

---

२. "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ० ८९-९८) देखिए।

बात यह है कि डॉ० जान वुडरफ जैसे पाश्चात्य विद्वानों और उनके सहयोगी भारतीय विद्वानों ने भी सर्वप्रथम जिस तान्त्रिक साहित्य को प्रकाशित किया, उसको देखकर ही संस्कृत साहित्य के इतिहास के लेखक डॉ० विण्टरनित्ज जैसे विद्वानों ने पुराणों के साथ तन्त्रागमशास्त्र के अनुशीलन को भी अरुचिकर बता दिया। इस तरह के आक्षेपों का म०म०पी०वी० काणे ने खंडन कर दिया है। यह सही है कि कुछ तान्त्रिकों ने लोकाचार की उपेक्षा कर स्वेच्छाचार का वरण कर लिया था और उनकी दानसागर-कार बंगाल के राजा वल्लालसेन ने समालोचना की थी। यही कारण था कि इस तरह के संपूर्ण तन्त्रागमीय साहित्य के साथ बौद्ध धर्म में प्रवृत्त इस तरह के साहित्य की भी उपेक्षा होने लगी। पांचरात्र, पाशुपत आदि मत अवैदिक हैं, इस तरह के मतवादों ने भी इसमें सहायता की। इस उपेक्षा के कारण तन्त्रागमीय साहित्य में विकृति आने लगी। उस विकृति के कारण और व्याकरण के नियमों की अवहेलना के कारण ये ग्रन्थ भाषा और दर्शन की दृष्टि से कमजोर पड़ गये। ऐसे साहित्य को देखकर ही आजकल के कुछ पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों की भी इस तरह की उक्तियाँ प्रचारित हो गई है कि तन्त्रागमशास्त्र का दार्शनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। हमने अपने ''आगमीयं दर्शनम्''[३] शीर्षक संस्कृत निबन्ध में इस मत की समालोचना करते हुए आगमीय दर्शन के स्वरूप का विस्तृत परिचय दिया है।

पांचरात्र आदि वैष्णवागमों से रामानुज आदि वैष्णव दर्शनों का और पाशुपत आदि शैवागमों से शैव दर्शनों का प्रसार हुआ, इसको कौन अस्वीकार कर सकता है? सर्वदर्शनसंग्रह में इन उभयविध दर्शनों का परिचय दिया गया है। वहाँ पूर्णप्रज्ञ (मध्व) दर्शन का परिचय कराते समय बताया गया है कि रामानुज और मध्वाचार्य के मत पर समान रूप से पांचरात्र आगम का प्रभाव है। इसी तरह से लकुलीश-पाशुपत, सिद्धान्त-शैव और प्रत्यभिज्ञा दर्शन शैवागमों की पृष्ठभूमि में विकसित हुए हैं। सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, लक्ष्मीतन्त्र आदि पांचरात्र आगमों में निर्दिष्ट दार्शनिक दृष्टि का वैष्णवाचार्यों ने विस्तार किया है। श्रीकण्ठ-भाष्य के टीकाकार अप्पय दीक्षित श्वेत आदि पाशुपत योगाचार्यों का सादर स्मरण करते हैं और स्वायंभुवागम के भाष्यकार सद्योज्योति शिवाचार्य एवं रौरवागम के वार्त्तिककार बृहस्पतिपाद शैवागमों के आद्य व्याख्याता माने गये हैं।

केवल महाभारत में ही नहीं, प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का

---

३. हमारे ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' नामक ग्रन्थ (पृ० १२५-१३९) में यह निबन्ध प्रकाशित हुआ है।

विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। जैन ग्रन्थों में भी इस राजा की चर्चा मिलती है। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव शूद्र एवं अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। महाभारत में श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आदि प्रवक्ता माना गया है। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। जैन और बौद्ध धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्धन का प्रयत्न किया, तो भी इसने कभी भी जैन एवं बौद्ध धर्म के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय पहले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से जाना जाने लगा।

आज से लगभग ८०-९० साल पहले डॉ० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने प्रसिद्ध ग्रन्थ ''वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स'' (वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत) में आगमिक संस्कृति की न केवल वैष्णव और शैव, अपि तु शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का भी प्राथमिक परिचय देने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न जहाँ तक हमारा परिचय है, बहुत आगे नहीं बढ़ सका। तन्त्रागमशास्त्र की पांचरात्र, पाशुपत, शाक्त, बौद्ध आदि धाराओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य लिखे गये, किन्तु वे सब प्रयत्न सामूहिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नहीं किये गये और न इन धाराओं की परस्पर की अनुस्यूतता की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया।

इस तन्त्रागमीय संस्कृति ने जैन और बौद्ध धारा के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान ग्रहण किये अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इसको अवदान मिला, इस विवाद में हम पड़ना नहीं चाहते। इस विषय में सही निर्णय तो तभी किया जा सकेगा, जब सिन्धु-घाटी की लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी इस संस्कृति के, विशेष कर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने इन्हें दिखाया भी है। अन्तर इतना ही है कि वहाँ पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव और शैव शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो उचित नहीं है। वस्तुतः ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की सूचना देते हैं।

वैष्णव आगमों की वैखानस, पांचरात्र और भागवत शाखाओं का विशाल साहित्य आज भी उपलब्ध है। हमने अपने संस्कृत ग्रन्थ ''वैष्णवागमविमर्शः'' में इन तीनों शाखाओं का परिचय दिया है। तिरुपति (बालाजी) की उपासना वैखानस पद्धति से और श्रीरंगम् में श्री रंगनायक की अर्चना पांचरात्र पद्धति से होती है। आन्ध्रप्रदेश में वैखानस मत और तमिलनाडु में पांचरात्र मत आज भी जीवित है। इसी तरह भागवत

मत के आधार पर पूरे भारत में भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। दक्षिणभारत में इनका पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। हयशीर्षपंचरात्र में पांचरात्र संहिताओं के अतिरिक्त भागवत संहिताओं के नाम भी उपलब्ध हैं। शक्तिसंगमतन्त्र में—(१) वैखानस, (२) राधावल्लभ, (३) गोकुलेश, (४) वृन्दावनी, (५) पांचरात्र, (६) वीरवैष्णव, (७) रामानन्दी, (८) हरिव्यासी, (९) निम्बार्क और (१०) भागवत नामक दस प्रकार के वैष्णव मतों का उल्लेख मिलता है। इनका भी संक्षिप्त परिचय हमने उक्त ग्रन्थ में ही दिया है।

आजकल सर्वाधिक साहित्य पांचरात्र आगम का उपलब्ध है। जर्मन विद्वान् डॉ० ओटो श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की [४]भूमिका में २१५ पांचरात्र संहिताओं की गणना की है। मद्रास से एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है—''पेनारोमा ऑफ पांचरात्र लिटरेचर''। इसमें अब तक उपलब्ध १०४ पांचरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ में लगभग ३०० संहिताओं की नामावली भी दी गई है। तिरुपति के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (अब मानित विश्वविद्यालय) के लब्धावकाश विद्वान् पं० आसूरि श्रीनिवास आयंगार ने इस सूची में अन्य अधिक नाम जोड़े हैं। पांचरात्र संहिताओं के हस्तलेखों का यहाँ सबसे बड़ा संग्रह है। इस प्रकार दक्षिणभारत की जागरूकता के कारण विशाल पांचरात्र साहित्य आज भी सुरक्षित है।

पाशुपत आगम की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपत योगाचार्यों की और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की नामावली उपलब्ध है। लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत आचार्यों के नाम जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। इन नामावलियों को डॉ० करुणा एस० त्रिवेदी के ग्रन्थ—''कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन'' (पृ० ९०-१००) में देखा जा सकता है। लकुलीश से पूर्व के उस पाशुपत मत का, जिसकी प्रतिष्ठा महाभारत के अनुसार श्रीकण्ठ ने की, बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। अपने बृहद् ग्रन्थ ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' के पाशुपत प्रकरण में इसका परिचय देने का हमने प्रयास किया है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं, कुछ ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति-ग्रन्थों से ही हम आज उस प्राचीन पाशुपत मत का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्तशैव संप्रदाय के मूल एवं टीका-ग्रन्थों से पांचरात्र और

४. वहाँ (पृ० ६-११) यह नामावली देखी जा सकती है। वहाँ हयशीर्षपंचरात्र में परिगणित ९ भागवत संहिताओं का समावेश किया गया है, जो उचित नहीं है। ''वैष्णवागमविमर्शः'' (पृ० ४७-४९) में हमने इस विषय पर विचार किया है। हमारी समझ में अभी इस नामावली को सही रूप दिया जाना बाकी है।

पाशुपत मत के प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्तों का पता चलता है, जहाँ वे पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत हैं।

वामनपुराण (६. ८०-९१) में वर्णव्यवस्था के अनुरूप शैवागम के चार विभाग किये गये हैं। वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण को सिद्धान्तशैव मत की पद्धति से, क्षत्रिय को पाशुपत विधि से, वैश्य को कालामुख और शूद्र को कापालिक विधि से शिव की आराधना करनी चाहिए। कर्णाटक में येलम्मा (भगवती रेणुका) का प्रसिद्ध देवीतीर्थ है। रेणुका मन्दिर के निकटवर्ती ग्राम हुली में किसी समय कालामुख संप्रदाय के अनेक मन्दिर विद्यमान थे। आज भी वीरशैव संप्रदाय के अनुवर्तियों में जैन धर्म के समान ही व्यापारी वर्ग की प्रधानता है। जैन साहित्य में ६३ शलाकापुरुषों की चर्चा मिलती है। शैव सन्तों (नायनारों) की संख्या भी ६३ मानी गई है। शाक्त और बौद्ध तन्त्रों की उपासनाविधि में कापालिकों अथवा महाव्रतधरों की विधियों का बहुत कुछ अनुसरण किया गया है। यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य में भी इन चतुर्विध शैवों का परिचय दिया गया है।

आगमशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने शैवागमों के [५]दस भेदों का वर्णन ''शैवदर्शनबिन्दु'' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। वहाँ उन्होंने २८ सिद्धान्तागमों का वर्णन अभिनवगुप्त की पद्धति से किया है, जहाँ कामिक आदि दस शिवागमों को द्वैतवादी तथा विजय आदि अट्ठारह रुद्रागमों को द्वैताद्वैतवादी बताया गया है। इन अट्ठाईस सिद्धान्तागमों की और उनके २०७ उपागमों की नामावली अब पांडिचेरी के फ्रेंच इंस्टीट्यूट से प्रकाशित रौरवागम के प्रथम भाग की प्रस्तावना में देखी जा सकती है। इस पूरी नामावली को और श्रीकण्ठीसंहिता, नित्याषोडशिकार्णव आदि नौ ग्रन्थों में दी गई ६४ तन्त्रों की नामावली को हमने तालिका के रूप में अकारादि क्रम से प्रस्तुत किया है। उसे लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ० ८६-१११) में देखा जा सकता है। वहाँ हमने तन्त्रागमशास्त्र के स्वल्पपरिचित लगभग ४०० ग्रन्थों का भी अलग से परिचय (पृ० १४-८४) दिया है।

किसी समय कोणार्क, कालपी और मुलतान (अब पाकिस्तान) में स्थित मन्दिरों में भगवान् सूर्य की क्रमशः प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन उपासना की जाती थी। दक्षिण भारत और विशेष कर केरल में आज भी सुब्रह्मण्य के रूप में कुमार स्कन्द की उपासना प्रचलित है। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान में भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी को बड़े उत्साह के साथ गणपति जयन्ती मनाई जाती है और काशी में माघ कृष्ण चतुर्थी को

५. दस भेदों के नाम वहाँ इस प्रकार गिनाये गये हैं—(१) पाशुपत, (२) शैव, (३) लकुलीश पाशुपत, (४) विशिष्टाद्वैतशैव, (५) वीरशैव, (६) रसेश्वर, (७) नन्दिकेश्वर, (८) प्रत्यभिज्ञा, (९) क्रम और (१०) कुल।

गणेश के उपासकों की विशाल भीड़ के दर्शन होते हैं। पुराणों में तो इनकी उपासना-विधि चर्चित है ही, साथ ही गणेश, सौर आदि उपपुराण भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थालयों में इन संप्रदायों के अनेकानेक ग्रन्थ विद्यमान हैं।

वैष्णव, शैव और शाक्त तन्त्रों के साथ सौर, स्कान्द, गाणपत्य आदि मतों का तथा कौल, यामल आदि शास्त्रों का विस्तार से परिचय संमोहनतन्त्र के आधार पर दिया गया है। इससे हमें तन्त्रागमशास्त्र की विशालता का परिचय मिलता है। यह संमोहनतन्त्र[६] कम्बुज (कम्बोडिया) से उपलब्ध शिलालेख में उद्धृत संमोहतन्त्र से भिन्न है, इसको स्पष्ट करते हुए हमने त्रिविध संमोहन तन्त्रों की चर्चा कर यह बताया है कि जिस संमोहनतन्त्र में इन शास्त्रों का वर्णन है, वह शक्तिसंगमतन्त्र के चतुर्थ छिन्नमस्ता खंड से अभिन्न है। श्रद्धेयचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के सन्दर्भ-ग्रन्थ ''तान्त्रिक साहित्य'' से भी तन्त्रागमीय साहित्य की विशालता जानी जा सकती है। दस महाविद्या संबन्धी साहित्य का तथा स्मार्त तन्त्रों का विवरण तो अभी प्रारंभिक अवस्था में है। हालैण्ड से अभी प्रकाशित हुए तन्त्रशास्त्र और आगमशास्त्र संबन्धी [७]दो ग्रन्थों में इनका अच्छा परिचय दिया गया है। स्मार्त तन्त्रों की समृद्धि की ओर हमनें अपने संस्कृत निबन्ध ''आचार्यशङ्करीयः प्रपञ्चसारः''[८] में कुछ इंगित किया है।

मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुति का बोधक वचन प्रसिद्ध है। हारीतस्मृति का यह वचन माना जाता है। श्रीमद्भागवत और देवीभागवत में वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र नामक विभाग मिलते हैं। मिश्र विभाग में हम ऊपर वर्णित स्मार्त तन्त्रों को रख सकते हैं, क्योंकि इनमें वैदिक और तान्त्रिक उभयविध श्रुतियों में समन्वय स्थापित कर विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रपंचसार, ईशानशिवपद्धति, शारदातिलक, महाकालसंहिता, शक्तिसंगमतन्त्र आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। वैखानस आगम के ग्रन्थों में उक्त त्रिविध विभाग की अपनी पद्धति से प्रस्तुति की गई है। वहाँ वैखानस आगम वैदिक, पांचरात्र आगम तान्त्रिक और भागवत आगमों को मिश्र विभाग में रखा गया है। दस महाविद्या संबन्धी समय मत के प्रतिपादक तन्त्रों की गणना हम स्मार्त तन्त्रों में ही कर सकते हैं। छठी-सातवीं शताब्दी के माने गये विष्णुधर्मोत्तर उपपुराण में भी स्मार्त उपादान मिलते हैं।

---

६. ''तन्त्रयात्रा'' (पृ० १०६-१११) में प्रकाशित ''संमोहनतन्त्रं शक्तिसंगमतन्त्रादभिन्नम्'' शीर्षक निबन्ध देखिए।

७. इन ग्रन्थों के नाम हैं— (१) हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर तथा (२) मिडीवल रिलीजियस लिटरेचर इन संस्कृत। गुजराती भाषा में बम्बई से फार्बस गुजराती सभा द्वारा सन् १९३२ में प्रकाशित तथा नर्मदाशंकर देवशंकर महेता द्वारा लिखित ''शाक्त साहित्य'' भी इस विषय का विशिष्ट ग्रन्थ है।

८. ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' (पृ० १८२-१९९) में यह निबन्ध प्रकाशित है।

पाशुपत मत की श्रीकण्ठ-प्रवर्तित और लकुलीश-प्रवर्तित द्विविध धाराओं की चर्चा अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (३७.१४-१५) में मिलती है। बहुत विस्तार में न जाकर हम इतना कह सकते हैं कि श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत से समय मत की और लकुलीश के "सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा० १५. ६०४) इस वाक्य पर आधारित सिद्धान्त से कौल और नाथ मत की प्रवृत्ति हुई। बौद्ध तन्त्रों में वर्णित सेकयोग और हठयोग को भी इन्हींके साथ जोड़ा जा सकता है। पर यहाँ इतना अवश्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के काल में शताब्दियों का अन्तर है।

जैन तन्त्रों की प्रवृत्ति भी इसी काल में हुई होगी, किन्तु आज कल के जैन विद्वान् तन्त्र शब्द से इतने आतंकित हैं कि वे जैन वाङ्मय में तन्त्र की स्थिति को मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं। दुर्भाग्य से तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आज इसी दृष्टि को सामने रखकर किया जाता है कि उसमें पंचमकार जैसे तत्त्व या उनके अनुकल्प अनिवार्य हैं। वस्तुतः देखा जाय तो इनका सम्बन्ध कौल तन्त्रों तक या उनसे प्रभावित संप्रदायों तक ही सीमित है। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्द मूलतः कौल तन्त्रों में व्यवहृत हैं और इनका प्रयोग जैन आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने अपने-अपने योगशास्त्र में चतुर्विध ध्यान के रूप में किया है। राजस्थान के जोधपुर में स्थित शोध-प्रतिष्ठान के संस्थापक मुनि श्री जिनविजय जी महाराज त्रिपुराभारती के उपासक थे और उन्होंने सोमतिलक सूरि की टीका के साथ त्रिपुराभारतीलघुस्तव का वहीं से प्रकाशन किया था। लघुस्तव के कर्ता धर्माचार्य त्रिपुरा संप्रदाय की सिद्धौघ परम्परा के द्वितीय गुरु हैं। ये मूलतः लाट देश (गुजरात) के निवासी रहे हैं और भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में इनकी पंचस्तवी के वचन मिलते हैं। हमने अपने बृहद् ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ० ७७५-८१५) में जैन तन्त्रों का भी संक्षिप्त परिचय दिया है।

कुछ विद्वान् समय-मत और कौल-मत को आस्तिक-नास्तिक विभागों में बाँटते हैं। उनका यह प्रयास उचित नहीं है। कामिकागम आदि में भारतीय वाङ्मय को लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में बाँटकर पुनः उनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच, अर्थात् कुल पचीस विभाग किये हैं। शतरत्नसंग्रहकार उमापति शिवाचार्य का कहना है कि इन विभागों का वर्णन सर्वात्मशंभु ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तदीपिका में किया है। इस ग्रन्थ की तीन पांडुलिपियाँ हमें पांडिचेरी के फ्रेंच शोध संस्थान से मिल गईं। अब यह ग्रन्थ शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी से सिद्धान्तप्रदीपिका के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में मान्त्रिक विभाग को छोड़कर प्रत्येक विभाग के प्रायः दो-दो या तीन-तीन उपविभागों का ही परिचय दिया गया है। पूरे ग्रन्थ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ अतिमार्ग

विभाग में पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत के साथ कौल और शाक्त मत का समावेश किया गया है। पाशुपत मत से यहाँ लकुलीश पाशुपत मत का ग्रहण करना चाहिए, श्रीकण्ठ के श्रौत पाशुपत मत का नहीं। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में हमने इस विभाग को भारतीय शास्त्रों का आगमाधारित विभाग बताया है। निगमाधारित विभाग महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के "प्रस्थानभेद" में देखा जा सकता है, जहाँ चतुर्दश अथवा अष्टादश विद्यास्थानों के रूप में भारतीय वाङ्मय का परिचय दिया गया है। बौद्ध तन्त्र के ग्रन्थ वसन्ततिलक की टीका में इसको शास्त्रों का परयूथ्य विभाग बताया गया है। वहाँ भी अपनी तरफ से शास्त्रों के [१]पाँच ही विभाग वर्णित हैं।

कुछ विद्वानों का मानना है कि निगम (वेद) और आगम शास्त्रों की मान्यताओं में कोई भेद नहीं है। इस विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि महाभारत-कार का यह वचन प्रसिद्ध है—"**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा**"। वैदिकी और तान्त्रिकी द्विविध श्रुतियों के प्रदर्शक कुल्लूक भट्ट के वचन की चर्चा अभी आ चुकी है। ऋजुविमर्शिनीकार कहते हैं कि त्रैवर्णिक-विषय और सर्ववर्ण-विषय के भेद से श्रुति दो प्रकार की है। "**वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम्**" इस तरह के वचन भी आगमशास्त्रों में मिलते हैं। भागवत आदि में तीसरा मिश्र विभाग भी वर्णित है। यहाँ निगम और आगम के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न परिलक्षित होता है, जहाँ अनुकल्पों की व्यवस्था है। यहाँ आकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे निगम और आगम की दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है।

वैष्णव आलवारों और आचार्यों की परम्परा में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ। इन्होंने यामुनाचार्य का अनुसरण कर वैदिकीकरण की प्रक्रिया को बल दिया, किन्तु इन्हींके प्रधानशिष्य कूरेश ने आलवारों की कृतियों की व्याख्या के रूप में विकसित तमिल साहित्य का अनुसरण किया है और तन्त्रागमीय परम्परा की उदात्त भावनाओं को जीवित रखा है। दक्षिणभारत में संस्कृत भाषा और तमिल भाषा के माध्यम से विकसित हुए वैष्णव साहित्य का आधार एक होते हुए भी परवर्ती काल में इनमें १८ विषयों पर मतभेद उभर आये। संस्कृत भाषा तथा वर्णाश्रमव्यवस्था का कट्टर अनुयायी वर्ग बड़कलै तथा तमिल भाषा का अनुयायी वर्ग टेंगलै नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैष्णव धर्म की टेंगलै धारा में ही उत्तरभारत के प्रसिद्ध सन्त रामानन्द का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने अपने वैष्णवमताब्जभास्कर में उन १८ विषयों का वर्णन किया है, जहाँ उनका बड़कलै संप्रदाय से मतभेद है। यहीं (पृ० १९-२१) इनको देखिए।

---

१. वे इस प्रकार हैं—"लक्षणं हेतुविद्या च तथैवाध्यात्मिकी पुनः। चिकित्साशिल्पविद्ये द्वे विद्यास्थानानि पञ्च च॥" (पृ ७२)।

रामानुज के शिष्य कूरेश की परम्परा में जिस रामभक्ति धारा का विकास हुआ, उसका मुख्य आधार पांचरात्र आगम की अगस्त्यसंहिता है। पांचरात्र आगम की तीन-चार प्रकार की संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। अधिकांश संहिताओं में चतुर्व्यूह सिद्धान्त प्रतिपादित है। इनमें से कुछ में वासुदेव और अन्य में नारायण प्रधान उपास्य देवता हैं। राम और कृष्ण की उपासना का वर्णन करने वाली संहिताएँ भी कम नहीं हैं। स्वामी रामानन्द के कुछ ग्रन्थों में तान्त्रिक कर्मकाण्ड की बहुलता कुछ लोगों को अटपटी लगती है, किन्तु उनकी रचनाओं पर यहाँ पांचरात्र साहित्य का प्रभाव था। यह स्पष्ट है कि परवर्ती काल में प्रादुर्भूत तन्त्रागम-साहित्य में दर्शन और योग की अपेक्षा बाह्य कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। कुछ पांचरात्र संहिताओं में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। यही कारण है कि कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्ड की ही भाँति तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी जनता की दृष्टि से असामयिक हो गया।

इन शास्त्रों का अध्ययन आजकल ऊपर निर्दिष्ट विभागों की अवहेलना कर ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, हिन्दू जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत किया जाता है। आर्य-द्रविड़, ब्राह्मण-श्रमण, बौद्ध-हिन्दू जैसे शब्द भारतीय समाज में विग्रह के बीजों को पनपाने वाले हैं। भारतीय साहित्य के इतिहास के ग्रन्थों में आजकल इन्हीं शब्दों का प्रयोग हो रहा है। हम इस बात को भूल बैठे हैं कि भारत की सर्वत्र समन्वय स्थापित करने की उदारदृष्टि ने आगम-तन्त्रशास्त्र और उसके आधार पर विकसित सन्त साहित्य की सहायता से विग्रह के इन बीजों को भूँज दिया था। भ्रष्ट बीज में अंकुरित होने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। रामायण, महाभारत और पुराणों में वैदिक, जैन, बौद्ध और आगमिक दृष्टि को समन्वित रूप में उपस्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न हुआ है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि राम और कृष्ण के समान बुद्ध और महावीर भी इसी धरती के सपूत थे और वैदिक दृष्टि भी चार्वाकों अथवा कुछ आधुनिक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों की बीभत्स उक्तियों के बावजूद इस संसार से कभी मिटने वाली नहीं है।

धर्मकीर्ति भारतीय दर्शनाकाश के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। परवर्ती साहित्य पर इनका अक्षुण्ण प्रभाव देखने को मिलता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि आगमों की द्वैतदृष्टि का, विज्ञानवाद की क्षणिकता का और वेदान्त के मायावाद का परिष्कार कर प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सृष्टि हुई है। बौद्ध सिद्ध कम्बलपाद की आलोकमाला हमारे सामने शून्यवाद की नई परिभाषा प्रस्तुत करती है। अद्वयवज्र का कहना है कि वैभाषिक आदि चारों बौद्ध नय चित्त की मलिनता को पूरी तरह से दूर नहीं कर पाते। मन्त्रनय की दृष्टि से ही यह कार्य हो सकता है।

यह ध्यान देने की बात है कि अद्वयवज्र ने यहाँ मन्त्रनय शब्द का प्रयोग किया है, वज्रयान का नहीं। भास्कराचार्य धर्मकीर्ति को विप्रभिक्षु और शंकर भगवत्पाद के

सिद्धान्त को बौद्ध महायानगाथित मायावाद कहते हैं और भास्कराचार्य को शंकर के अनुयायी अनेकान्तपादावनत-शिरोबिम्ब मानते हैं। भट्ट कुमारिल का कहना है कि भर्तृमित्र आदि आचार्यों ने मीमांसा को चार्वाक सिद्धान्त का अनुगामी बना दिया और जब हम भट्ट प्रभाकर के सिद्धान्तों को देखते हैं, तो ऐसा लगता है कि वे आगमिक संवित्-सिद्धान्त से प्रभावित हैं। महाकवि भवभूति की परात्रीशिकाव्याख्या का उल्लेख मिलता है।

इन सबको उद्धृत करने का तात्पर्य केवल इसमें है कि हमें केवल तन्त्रागमीय दर्शन का ही नहीं, सभी भारतीय दर्शनों की देश और काल की परिधि में विकसित हुईं घात-प्रतिघातात्मक दृष्टियों का भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण करना चाहिए। अभिनवगुप्त पर्यन्त विकसित हुई इन दृष्टियों के ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिशीलन के बाद ही हम नवीन भारतीय दृष्टि का उन्मेष कर सकते हैं। भारतीय संस्कृति को ही नहीं, विश्वमानवता को भी एक नया संदेश सुना सकते हैं।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी तन्त्रागमीय साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु शांकर वेदान्त को छोड़ अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति श्रद्धेय कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर वेदान्त की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की जरूरत है।

उपासना के क्षेत्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के गरीयस्त्व की घोषणा तन्त्रागमीय साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। पूरे भारत के सन्त साहित्य में इसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। यही वह संवल था, जिसके सहारे यह राष्ट्र परतन्त्रता काल के एक हजार वर्षों में अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रख सका। महात्मा गाँधी को इस सन्त धारा की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारा

विश्वास है कि भारतीय संस्कृति की इस पावन धारा में वह अमृतरस-सिंचिनी शक्ति अभी भी मौजूद है, जिससे एक नवीन भारतीय राष्ट्र के निर्माण के लिए एक समग्र भारतीय संस्कृति के स्वरूप का निर्धारण किया जा सके। सूफी सन्तों और यहूदी एवं ईसाई सन्तों की भक्तिधारा ने इस ओर लंबा रास्ता तय किया है। इन धाराओं को भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह में एकाकार कर लेने की मात्र आवश्यकता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया, आगम और तन्त्रशास्त्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। भक्ति का मूल प्रेरणास्रोत दक्षिणभारत के भक्ति आन्दोलन को माना जाता है। दक्षिणभारत के भक्तों की भागवत महापुराण में भी महिमा गाई गई है। ऐसे अनेक वचन संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में भी मिलते हैं, जिनका अभिप्राय यह है कि भक्ति द्रविड़ देश में उपजी, कर्णाटक और गुजरात होते हुए वह वृन्दावन पहुँची तथा वहीं से वह सारे देश में फैली। आज भी हम देखते हैं कि पूरे असम के राज्यों में भी वह मणिपुर तक फैली हुई है। आज हमने इसकी उपेक्षा कर दी है और इस पूरे प्रदेश पर अब अपसंस्कृतियाँ अपना पंजा कसती चली जा रही हैं।

भक्ति सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति वेद से ही मानी जाती है, किन्तु विष्णु-शिव, राम-कृष्ण सम्बन्धी जिस भक्ति की हम चर्चा कर रहे हैं, उसका स्पष्ट स्वरूप वहाँ लक्षित नहीं होता। हाँ, विष्णु और शिव की भक्ति के अद्यावधि परिज्ञात प्राचीनतम रूप पांचरात्र और पाशुपत मत की कुछ झलक हमें वहाँ देखने को मिलती है। रुद्राध्याय तथा कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में रुद्र के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव—इन नामों के साथ आये पंचब्रह्म मन्त्रों से, जिनका समावेश पुष्पांजलि मन्त्रों में आज भी प्रचलित है, शिव के जिन पांच स्वरूपों की स्तुति की गई है, वे ही परवर्ती पाशुपत मत के मूल आधार माने जाते हैं। इसी तरह केवल महाभारत में ही नहीं, प्राचीन जैन तथा बौद्ध साहित्य में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। छान्दोग्य उपनिषद् (३.१७.६) में देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण कराता है। वहाँ (७.१.३) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का ही अपर नाम है। वहाँ (७.२६.२) वर्णित ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है।

महामुनि पाणिनि और पतंजलि के ग्रन्थों में तथा प्राचीनतम शिलालेखों में शिवभागवतों और वासुदेव-संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में भी इन दोनों संप्रदायों का तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया ही गया है। पांचरात्र संहिताओं और शैवागमों का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियों में कब कहाँ हुआ? यह बता

पाना तो कठिन है, किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने धर्म का निर्णय करने में इनको भी एकमत से प्रमाण माना है। मूर्तियों और मन्दिरों की निर्माणविधि, प्रतिष्ठाविधि तथा पूजापद्धति का विशद वर्णन इन्हीं में मिलता है। इन शैव और वैष्णव आगमों के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव भी पुण्यभूमि आर्यावर्त में ही हुआ। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसे स्वीकार भी किया है, किन्तु आज इन आगमों का परम्परागत अध्ययन केवल दक्षिणभारत में ही सुरक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति-संप्रदाय के मूल प्रेरणास्रोत ये आगम-ग्रन्थ ही हैं।

दक्षिणभारत में जहाँ आलवारों का वैष्णवभक्ति आन्दोलन और नायनारों का शैवभक्ति आन्दोलन चल रहा था, लगभग उसी समय उत्तरभारत में सिद्धाचार्यों का रहस्यवादी आन्दोलन अपने चूडान्त उत्कर्ष तक पहुँच चुका था। इनमें कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएँ थीं। समानता यह थी कि ये सब वर्ण और जाति के बन्धनों से मुक्त थे। इसीलिए इन सभी संप्रदायों में सभी वर्णों और धर्मों के उच्च कोटि के भक्तों और सिद्धों को समान आदरभाव के साथ एक ही 'भक्तमाल' में पिरोया गया है। इनकी सबसे बड़ी असमानता यह थी कि दक्षिणभारत के भक्ति आन्दोलन के प्रेरणास्रोत आगम-ग्रन्थ थे, तो उत्तरभारत के सिद्धाचार्य रहस्यवादी तन्त्रशास्त्रों (बौद्ध, शैव, शाक्त) से प्रभावित थे। ऐसा कहा जा सकता है कि आगम-ग्रन्थों में सात्त्विक भाव की प्रधानता है, जबकि रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र राजस और तामस भावों को अधिक उद्वेलित करता है। इसी विषमता का यह परिणाम हुआ कि अपनी शुद्ध सात्त्विकता के आधार पर दक्षिण में प्रादुर्भूत भक्ति आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया। इसका श्रेय दक्षिणभारत के वैष्णव सन्तों (आलवारों) के साथ उन आगम-ग्रन्थों को मिलना चाहिये, जिनकी एक लंबी परम्परा रही है और जिन्होंने विषम परिस्थितियों में उपनिषदों की परम्परा को आगे बढ़ाने में सराहनीय योगदान किया है। भक्तों और सन्तों की वाणियों में ये उपदेश और भी उज्ज्वल हो उठे हैं।

आवाप और उद्वाप की, ग्रहण और त्याग की उत्कृष्ट प्रक्रिया के आधार पर भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म ने जब हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड के साथ वेदारण्यक का भी विरोध किया, तो आगम-ग्रन्थों के माध्यम से एक नई पूजाविधि का आलोक फैला और इससे जैन और बौद्ध धर्म भी अछूते न रह सके। वैदिक संस्कृति के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इसमें समावेश हुआ। इसी तरह से आगम-तन्त्रशास्त्र के कर्मकाण्ड में भी अत्यधिक जटिलता आ जाने पर भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भावना पर अधिक बल दिया गया, चित्त के परिष्कार को सर्वोच्च स्थान दिया गया। इसी काल में योगवासिष्ठ, विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। यों तो इस प्रक्रिया का आरम्भ उपनिषदों और भगवद्गीता में

ही हो चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस भावना-पद्धति का स्पष्ट विकास प्रधानतया आगम-ग्रन्थों में हुआ और सहजयान की पद्धति ने भी इसमें अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया, जहाँ चित्त की प्रभास्वरता को ही सर्वोच्च स्थान मिला है।

दक्षिणभारत की इस भावनाविधि के प्रतिनिधि वैष्णव सन्त आलवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वचनों को तमिलवेद की संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या बारह है। शैव सन्त नायनार के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या तिरसठ है। जैन धर्म में भी तिरसठ शलाकापुरुषों का वर्णन मिलता है। ऊपर सिद्धाचार्यों की चर्चा आ चुकी है। इनकी संख्या चौरासी है। ऐसा कहा जाता है कि इनमें प्रधानतः बौद्धमत के अनुयायी थे। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस भक्ति आन्दोलन में सभी धर्मों और वर्णों के महान् भक्तों और सन्तों ने अपना योगदान किया था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में कालान्तर में प्रविष्ट दोषों का परिमार्जन भी इन भक्तों और सन्तों की वाणी से हुआ है। औपनिषद ब्रह्मभावना का जो स्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि', 'शिवोऽहम्', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे रूपों में श्रुति, आगम और पुराणों के वचनों में मिलता है, उनका इन भक्तों और सन्तों की वाणियों में और उनके व्यक्तिगत जीवन में भी चूडान्त उत्कर्ष हुआ है।

महाभारत ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत को समान प्रमाण-कोटि में माना है। कालिदास जब कहते हैं—

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

और पुष्पदन्त जब कहते हैं—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने ....
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

और फिर वीरमित्रोदय- कार जब पूछते हैं—"ननु सांख्य-योग-पाञ्चरात्राद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न?", तब वे इन्हीं शास्त्रों के प्रामाण्य की बात करते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थों तन्त्रालोक और ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में निगमागमशास्त्र के [१०]प्रामाण्य पर अच्छा विचार किया है। उसका सारांश यह है कि सभी आगम अनादि काल से गुरुशिष्य-परम्परा के माध्यम से निरन्तर चले आ रहे हैं। इस पद्धति से सांख्य,

---

१०. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" में प्रकाशित "पुराणानां नूनमागममूलकत्वम्" (पृ० १०७-११८) शीर्षक निबन्ध देखिए। आगमों के प्रामाण्य के लिए यहाँ की पहली टिप्पणी में स्मृत ग्रन्थों को भी देखना चाहिए।

योग, पाशुपत, पांचरात्र मतों के साथ जैन और बौद्ध आदि सभी शास्त्रों का हम आगमशास्त्र में समावेश कर सकते हैं।

इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने वराहमिहिर के उस प्रसिद्ध श्लोक को भी उद्धृत किया है, जिसमें भागवत, सौर, शैव आदि मतों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसकी यह उपासना उक्त शास्त्र में प्रदर्शित विधि के अनुसार ही की जानी चाहिए—

विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजा
मातृणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः।
शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (५९.१९) में यह श्लोक उपलब्ध है।

वराहमिहिर का वह श्लोक भी बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें वे कहते हैं कि म्लेच्छों (यवनों) में ज्यौतिषशास्त्र व्यवस्थित रूप में विद्यमान है, अतः उनका भी ऋषियों के समान आदर किया जाता है—"**म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते**"।

अभिनवगुप्त के द्वारा उपस्थापित इस पूरे प्रकरण के आलोक में यह कहा जा सकता है कि आज पूरी दुनिया में वर्तमान सभी धर्मों के आकर-ग्रन्थों का निगमागमशास्त्र में समावेश किया जा सकता है, क्योंकि इन सभी धर्मों के उपदेष्टाओं ने समाधि-अवस्था में प्रादुर्भूत प्रातिभ ज्ञान के सहारे इनको प्राप्त किया था। अतः इनकी आप्तता में हमें किसी प्रकार का संशय नहीं रहना चाहिए।

नवीं शताब्दी के रचनाकार वैरोचन शिवाचार्य ने अपने ग्रन्थ प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.१७९-१८१) में इक्कीस प्रतिष्ठातन्त्रों के नाम दिये हैं। इनके नाम शिवागमों, उपागमों अथवा उपपुराणों की सूचियों में मिलते हैं। इसी ग्रन्थ में—

न वेदे त्रिविधं लिङ्गं न च प्रासादलक्षणम्।
न द्वारं मण्डपादिश्च स्थापनं न शिवादिके॥ (२.१५६)

यह वचन उपलब्ध है। इसका अभिप्राय यह है कि आगमों में इनका प्रतिपादन हुआ है। बृहन्नारदीय पुराण के वचन भी इसमें प्रमाण हैं—

न वेदे ग्रहसंचारो न शुद्धिः कालबोधिनी ।
तिथिवृद्धिक्षयो वापि न पर्वग्रहनिर्णयः ॥
इतिहासपुराणैस्तु कृतोऽयं निर्णयः पुरा ।
यत्र दृष्टं हि वेदेषु तत्सर्वं लक्ष्यते स्मृतौ ॥

उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत्पुराणैः प्रगीयते । (बृ. ना. २.२४.१९-२१)

भविष्यपुराण (२.१.११.१) में भी बताया गया है कि वृक्ष, आराम (उद्यान), वापी, कूप, तडाग आदि की प्रतिष्ठा तन्त्रों के अनुसार की जाती है—

अथ तन्त्रविधिं वक्ष्ये पुराणेष्वपि गीयते ।
तन्त्रं चैव प्रतिष्ठां च कुर्यात् पुण्यतमेऽहनि॥

शास्त्रों में इष्ट और पूर्त नामक द्विविध कर्मों का विधान है। भोजदेव के ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश के व्याख्याकार कुमारदेव का कहना है कि इष्ट वैदिक धर्म का और पूर्त तान्त्रिक धर्म का अंग है। हम कह सकते हैं कि अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम आदि पारलौकिक धर्म हैं और पूर्त ऐहलौकिक। इसका अभिप्राय यह है कि इष्ट कर्मों के अनुष्ठान का फल परलोक में मिलता है, जबकि पूर्त कर्मों के द्वारा सामान्य जनता के साथ कर्ता स्वयं भी इसी लोक में नाना प्रकार की सुख-सुविधाओं का उपभोग करता है। इस तरह से मूर्ति, प्रासाद आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा में तथा वापी, कूप आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा में प्रथमतः आगम और तन्त्रशास्त्र का ही प्रामाण्य अंगीकृत है। उपलब्ध धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में इसको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। पुराणों में इष्ट और पूर्त दोनों ही प्रकार के धर्मों का जो वर्णन मिलता है, उसका आधार वैदिक साहित्य के साथ तन्त्रागमीय साहित्य भी है। इसीलिए हमने अपने संस्कृत निबन्ध "पुराणानां नूनमागममूलकत्वम्"[११] में यह स्पष्ट किया है कि पुराण न केवल वेदों के, अपितु आगमों के ही उपबृंहक हैं। वहाँ विस्तार से बताया गया है कि अग्निपुराण, बृहन्नारदीयपुराण आदि में किस प्रकार आगमों से सामग्री संकलित की गई है। स्पष्ट है कि वैदिक श्रुति के समान तान्त्रिक श्रुति को भी धर्म के निर्णय में भारतीय जनमानस में ऊँचा स्थान मिला हुआ है। इसीलिए पांचरात्राधिकरण में इस मत के खण्डन में प्रवृत्त आचार्य शंकर और भास्कर को इस मत की कुछ मान्यताओं को स्वीकार करना पड़ा है। महर्षि शाण्डिल्य की उक्ति को हम अपने मत की तरफ आकृष्ट करने वाला प्ररोचना (अर्थवाद) वाक्य मान सकते हैं।

●●●

११. ऊपर की संख्या १० की टिप्पणी में इसका स्थान-निर्देश किया गया है।

आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि

तान्त्रिक शब्द आज बदनाम-सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही इस शब्द को सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास-ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इतिहास के ग्रन्थों में शैव ओर वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका सम्बन्ध तान्त्रिक वाङ्मय से न जोड़ कर पुराणों से जोड़ा जाता है। भारतीय इतिहास की, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की उन त्रुटियों की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिनके कारण देश अनेक विसंगतियों में फँस गया है।

सन् १९२१ में लन्दन से प्रकाशित "हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म" नामक ग्रन्थ में श्री चार्ल्स ईलियट ने बताया था—"तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्म-ग्रन्थ हैं और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं। इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, यन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिए विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है—भक्त को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उसको रूपान्तरित करके भगवान् बना देना" (भा. २, पृ. १९०)।

यह बात आगम और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि श्री चार्ल्स ईलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगमशास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं।

इन विसंगतियों के परिहार के लिये हमने श्रद्धेय श्री श्री पं. गोपीनाथ कविराज जी के द्वारा निर्धारित शास्त्रीय विमर्श-पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" में तन्त्रागमशास्त्र की वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त शाखाओं का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आगम-तन्त्रशास्त्र की आधुनिक सामाजिक परिवेश के परिष्कार में क्या भूमिका हो सकती है ? इस विषय पर हम यहाँ कुछ लिखना चाहते हैं।

''तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्म-ग्रन्थ हैं और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं'' ऊपर उद्धृत प्रो. ईलियट की इस उक्ति के साथ ही हम इस विषय को प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

अध्ययन की दिशा

हम इस विषय से संबद्ध अत्यन्त महत्त्व के पहलुओं को ही छू रहे हैं। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्धारित ऐतिहासिक क्रम को हमने स्वीकार कर लिया है, किन्तु उनके द्वारा किये गये विभाजन को नहीं। आजकल सर्वत्र बौद्ध, जैन और हिन्दू विभागों के अन्तर्गत तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन किया जाता है। यह उचित नहीं है। बौद्ध महायान धर्म वैष्णव आगम की पांचरात्र शाखा से और वज्रयान एवं सहजयान शैव-शाक्त तन्त्रों की कौल शाखा से समरस हैं। इसी तरह प्रारंभिक जैन धर्म शैव आगम की पाशुपत शाखा से, कर्णाटक का जैन धर्म सिद्धान्त शैवागम से और गुजरात का जैन धर्म शाक्त तन्त्र की त्रिपुरा शाखा से समरस है। इन सबको हिन्दू-तन्त्र नाम दे देने पर इन सबका परस्पर सूक्ष्म पर्यवेक्षण नहीं होने पाता। इसीलिये हमने अपने ग्रन्थ में इन सभी शाखाओं को अपने-अपने नाम से संबोधित कर उनकी विशेषताओं का अलग-अलग विश्लेषण किया है। वहाँ इनकी समानता पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इनके पूर्वापरभाव पर अपने-अपने आग्रह हो सकते हैं। इसको यहाँ छोड़ दिया गया है। सर्वप्रथम हम यह दिखाना चाहते हैं कि इस शास्त्र ने मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है।

दीक्षा के अधिकारी

वैष्णव आगम के मुख्यतः तीन विभाग मान्य हैं—वैखानस, पांचरात्र और भागवत। वैखानस पद्धति आज भी आन्ध्रप्रदेश में प्रचलित है और तिरुपति के बालाजी के नाम से प्रसिद्ध भगवद्विग्रह की आराधना वैखानस आगम की पद्धति से होती है। तमिलनाडु में आज भी पांचरात्र पद्धति से श्रीरंगम् देवस्थान में पूजा होती है। भागवत संप्रदाय आजकल उत्तरभारत में विशेषरूप से प्रचलित है। इधर भक्ति-संप्रदाय के रूप में बंगाल, असम और मणिपुर तक इसका विस्तार हुआ। इन तीनों संप्रदायों को क्रमशः वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र विभाग में रखा गया है। वैदिक पद्धति को त्रैवर्णिक-विषय और आगमों की पद्धति को सर्ववर्ण-विषय माना गया है। पांचरात्र आगम की उपासना में सभी वर्णों का अधिकार मान्य है। भगवद्गीता की पद्धति से यहाँ स्त्री और शूद्र के अधिकार को मान्यता मिल जाने पर भी उसी परिवार को मान्यता दी गई है, जिसने मद्यपान का परित्याग कर दिया है। भागवत संप्रदाय के अन्तर्गत जब भक्ति-संप्रदाय का उदय हुआ, तो अनेक पुराणों में और भक्ति काव्यधारा में भी मानवमात्र को यह

अधिकार मिल गया। "**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**" भगवद्गीता का यह वचन इसका साक्षी है। जगन्नाथपुरी में इसका व्यावहारिक रूप भी कुछ उभरा, जो अब धीरे-धीरे आँख-ओझल हो रहा है।

पाशुपत मत को अत्याश्रमी माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पाशुपतों को वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था मान्य नहीं है। कूर्मपुराण जैसे कुछ पुराणों में भी यह शब्द उपलब्ध है और इसके अन्तर्गत ब्राह्म, वैष्णव और शैव नामक त्रिविध वर्णों की चर्चा भी है। इस प्रसंग में यह बता देना भी जरूरी है कि बौद्ध कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका के कर्ता पुण्डरीक ने भी स्वपरदर्शन प्रकरण (२.१६२-१६३) में ब्रह्म-विष्णु-शिव मतों की चर्चा की है। कश्मीर के स्वच्छन्दतन्त्र में बताया गया है कि शैव धर्म में दीक्षित हो जाने पर व्यक्ति को अपनी पूर्व जाति का स्मरण नहीं करना चाहिये। दीक्षा के बाद वह केवल शैव रह जाता है। इसी न्याय को हम बौद्ध, जैन, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, सिक्ख शब्दों के साथ भी जोड़ सकते हैं। यह व्यवस्था पूरी तरह से चल नहीं पाई। संन्यासी के लिये भी यह व्यवस्था थी कि वह पूर्व जाति को भूल जाय। ऐसा हुआ नहीं।

सिद्धान्तागमों की कुछ संहिताओं में दीक्षा का अधिकार अधिक व्यापक हो गया। कश्मीरी विद्वान् सोमानन्द की शिवदृष्टि में कालपादा नामक संहिता को उद्धृत कर बताया गया है कि श्वपचों को भी दीक्षा दी जानी चाहिये। वीरशैव मत के आचार्य श्रीकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है। मकुटसंहिता में तो स्पष्ट ही बताया गया है कि पुण्य-पाप की दृष्टि से ब्राह्मण-चाण्डाल आदि जातियों की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि चाण्डाल भले काम में लगा हुआ है और ब्राह्मण पतन की ओर उन्मुख है। मकुटसंहिता आदि के इस तरह के अनेक श्लोक कश्मीर (उत्तरभारत) और चोल देश (दक्षिणभारत) के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। दक्षिणभारत के शैव-वैष्णव भक्तों तथा उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों और भक्तों की परम्परा में जाति की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी गई है। इसीके आधार पर आगम-तन्त्रशास्त्र में एक नई सामाजिक दृष्टि का उन्मेष हुआ। यहाँ हम संक्षेप में उसी दृष्टि को उजागर करना चाहते हैं।

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक

तन्त्रालोक (१५.५९५-५९६) में कुलगुह्वर और निशिसंचारशास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और अर्थ के द्वारा उद्भूत आठ प्रकार के आग्रहों (दुराग्रहों) की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णवतन्त्र

(१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नाम के आठ पाश वर्णित हैं। इनमें से जातिग्रह और शंका का शैव शास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। अन्य सभी आग्रहों अथवा पाशों से हम सब प्रायः परिचित हैं।

जातिग्रह

तन्त्रालोक (१५.५९७-६०४) में निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश (लकुलीश) के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ. २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ कल्पित हैं। इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने मकुटसंहिता को उद्धृत किया है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। तन्त्रालोक (१५.५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत का शान्तिपर्व) और मकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गई है। इन सभी वचनों का संग्रह टीकाकार जयरथ ने किया है। इस प्रसंग में स्वच्छन्दतन्त्र (४.५४०-५४६) को भी देखा जा सकता है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १४५) में ब्राह्मण-चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपादा(कालोत्तर) संहिता शिवदृष्टि (३.११) में स्मृत है। क्षेमराज ने नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१०) में इसका एक वचन उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्वपचों को भी दीक्षा का अधिकारी माना गया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रह मान कर इसे हेय कोटि में रखा गया है। भारत हो या अन्य देश, आज जाति का दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बन गया है। इसका निराकरण हम उक्त दृष्टिकोण के आधार पर, इनमें विद्यमान ऊँच-नीच की भावना को दूर कर और सर्वत्र समता दृष्टि की उद्भावना करके ही कर सकते हैं।

शंका

जाति के समान ही शंका की भी पाश में गणना की गई है। शंका को यहाँ विशेष रूप से अशान्ति का कारण माना है। यह शंका अज्ञान के कारण होती है। तन्त्रालोक (१२.२०-२५) और परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५-२३६) में सर्ववीरभट्टारक, क्रमसद्भाव, तत्त्वार्थचिन्तामणि, मतशास्त्र, निशाकुल आदि ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि मन में उठने वाले नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल से घिरे हुए व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मन्त्रशंका, आत्मशंका, द्रव्यशंका, भूतशंका, दिव्यकर्मशंका और तत्त्वशंका के नाम से शंका के छः प्रकार यहाँ वर्णित हैं। इस षड्विध शंका का परित्याग करने पर ही व्यक्ति को शान्ति मिल सकती है। आज भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि के द्वन्द्वों में फँसकर

नाना प्रकार की शंकाओं से घिरा हुआ है। इनसे घिरे होने के कारण ही भारतीय समाज आज विविध धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमणों का सामना करने में अपने को अक्षम पा रहा है। उसकी वह उर्वरा शक्ति समाप्त हो गई है, जिसके आधार पर इसने पूर्व काल में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को आत्मसात् कर लिया था।

तन्त्रशास्त्र का उद्‌घोष है कि शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध आदि की व्यवस्था का मानव की आध्यात्मिक उन्नति में कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। मन की पवित्रता पर यहाँ अधिक जोर दिया गया है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार (पृ. ३१-३२) में बताया गया है कि नाना प्रकार की शंकाओं से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति को याग, होम, जप, व्रत आदि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। यहाँ इनके बाह्य स्वरूप की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। बताया गया है कि इस बाह्य और आन्तर उपासना का प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है और जिस विधि से भी साधक का मन स्थिरता प्राप्त कर सके, तदनुसार ही वह अपनी जीवनचर्या बना ले। शुद्धि-अशुद्धि और विधि-निषेध की व्याख्या वहाँ विशेष प्रकार से की गई है।

शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था

स्वायंभुवागम के एक वचन में राग आदि से उत्पन्न चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना गया है। विज्ञानभैरव (श्लो. १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है। हमने मालिनीविजय, तन्त्रालोक, वीरावलीशास्त्र आदि के प्रमाण से इस ग्रन्थ की हिन्दी व्याख्या में इस विषय पर विशद विचार किया है। तन्त्रालोक के चौथे और १५वें अह्निक में शुद्धि और अशुद्धि पर गंभीर विचार किया गया है। वहाँ आनन्दशास्त्र, मतशास्त्र, पूर्वशास्त्र तथा कुल-क्रम एवं त्रिकशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत कर उक्त तान्त्रिक दृष्टि का समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो. ९) में शुद्धि की परिभाषा देते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है कि इदन्ता के रूप में मलिन हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है। महेश्वरानन्द (पृ. ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की तन्त्रशास्त्र-संमत व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की जरूरत है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शारीरिक शौच को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना गया है। मिट्टी आदि से की गई शारीरिक शुद्धि की अपेक्षा मानस शुद्धि श्रेष्ठ मानी गई है। शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे उसमें कुछ बढ़ोतरी होने वाली नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक

शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बना कर साधक स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

विधि-निषेध मीमांसा

शुद्धि और अशुद्धि की व्यवस्था के समान ही यहाँ विधि और निषेध की भी मीमांसा अपनी दृष्टि से की गई है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ. २१-२२) में विधि और निषेध की भी तन्त्रशास्त्र-संमत व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा करते समय वे संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को उद्धृत करते हैं। वहाँ बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वह हमारे लिये हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते, वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि यह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४.२५६-२७४, १२.१४-२०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजय (१८.७४-८१) में बताया गया है—"शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तीर्थाटन करना या न करना, नियमों का पालन करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम-गोत्र आदि को रखना या न रखना—जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी वस्तुएँ विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें व्यक्ति की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। वस्तुतः तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्रों में केवल इतना ही कहा गया है कि साधक को प्रयत्नपूर्वक परमतत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी प्राप्त हो, साधक को तदनुसार अपनी चर्या बना लेनी चाहिये"। सन्त कबीर के वचनों से इसकी तुलना कीजिये। इसीको शास्त्रों में सहज स्थिति माना गया है।

विधि-निषेध की इस दृष्टि को मनुस्मृति भी मान्य करती है—"**न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥**" (५.५६)। यहाँ का चतुर्थ चरण विशेष रूप से अवधेय है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधि और निषेध की परम्परागत व्यवस्था को तन्त्रशास्त्रीय दृष्टि और समय की माँग के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। तन्त्रशास्त्र का यह उद्घोष अवधेय है—

> यद्यप्यस्ति त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षमः।
> तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत्॥
>
> (शक्तिसंगमतन्त्र, २.४६.४२)

सत्तर्क और स्वानुभव

सहज स्थिति की ऊपर चर्चा आई है। इसके साक्षात्कार के लिए प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सत्तर्क और स्वानुभव को वरीयता दी गई है। मालिनीविजय (१७.२८) के प्रमाण से तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना गया है। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञा दर्शन में हुआ है। तन्त्रागमशास्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से स्मृत है। सत्तर्क और स्वानुभव शब्दों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.३४-८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। वे हैं—गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु से शास्त्र और शास्त्र से स्वानुभव श्रेष्ठ है। स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए यहाँ किरणागम के अतिरिक्त पूर्वशास्त्र (मालिनीमत), परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन भी उद्धृत हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। योगवासिष्ठ (नि. पू. ४१.१५) का कहना है—"स्वात्मस्वरूप का ज्ञान शास्त्रों की अथवा गुरु की सहायता से नहीं मिल सकता। उसका ज्ञान तो अपनी बोधशक्ति के उन्मेष से अपने आप होता है"। यहाँ शास्त्र की अपेक्षा गुरु को वरीयता दी गई है। स्पष्ट है कि इन सब शास्त्रों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही श्रेष्ठ माना गया है।

समता-दृष्टि

इस प्रातिभ ज्ञान से समता दृष्टि का उन्मेष हो, यह अति आवश्यक है। शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४.२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार की समता के प्रतिपादक त्रिकशासन के एक वचन को उद्धृत किया है। वहाँ के दोनों श्लोक महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमलव्याख्या (पृ. १६८) में भी उद्धृत हैं। इसके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक-सी दृष्टि रखना ही समता-दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है। अतः सभी भावों और धर्मों में भी समता-दृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४०वीं धारणा का विधान है। आनन्दभैरव-शासन में बताया गया है कि अद्वयदृष्टि के आधार पर वर्णाश्रम आदि के आचारों में, सभी देवताओं और दृष्टियों (दर्शनों) में भी

समता का दर्शन करने वाला साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नन्दिशिखाशास्त्र में इसे समताव्रत और भर्गशिखा में वीरव्रत कहा गया है। तन्त्रालोक (१२.१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५) में भी इसकी चर्चा है। शिवसूत्र (३.३२) और शिवदृष्टि (पृ. १८) में शिवरूपता तथा सर्वात्मकता (पृ. १९४-१९५, २०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है। योगवासिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ विस्तार से इसके महत्त्व को स्थापित किया गया है। "**समत्वं योग उच्यते**" (२.४८), "**पण्डिताः समदर्शिनः**" (५.१८), "**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**" (६.८), "**सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥**" (६.९), "**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति**" (६.३२), "**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः**" (१४.२४)—भगवद्गीता के इन सभी वचनों में समता-दृष्टि का ही गुणगान मिलता है। स्पष्ट है कि समता-दृष्टि का विस्तार यहाँ बहुत पहले हो चुका था। भगवद्गीता आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में उपदिष्ट इस समता-दृष्टि की प्रो. मुकुटबिहारीलाल जी के काशी के जंगमवाड़ी मठ से अभी हाल में प्रकाशित "साम्ययोगमीमांसा" नामक ग्रन्थ में आधुनिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

हम सोच सकते हैं कि आज इन सब अतिप्राचीन अथ च अतिनवीन सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण वर्तमान काल संकटापन्न हो गया है। हम तन्त्रागमशास्त्र में व्याख्यात इस दृष्टिकोण के आधार पर इन सबमें समन्वय स्थापित कर सारे जगत् को सांस्कृतिक एवं धार्मिक संकट से उबार सकते हैं, एक नूतन मानव-समाज की संरचना कर सकते हैं। मोक्षकारिका की वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ का कहना है कि शैवशास्त्र अन्य दर्शनों को असत्य नहीं मानता। इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने सर्वागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ में किया है। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने मायावामनसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ही भगवान् विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। नेत्रतन्त्र के १३वें अधिकार में भी यह बात विस्तार से बताई गई है। महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ व्याख्या में इस विषय को उठाया है। बौद्ध-जैन और शैव-शाक्त संप्रदायों में आत्मसप्तति, आत्मसंबोध (स्वात्मसंबोध), इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार आदि विभिन्न ग्रन्थों के नामों का समान रूप से उपयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय इन संप्रदायों में समन्वयवादी दृष्टि का उन्मेष हो चुका था, जो आज की परिस्थितियों में भी उतनी ही क्या, उससे भी अधिक उपयोगी है। इस प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के स्वात्मदेवता, एक ही जन्म में मुक्ति, स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा, परतत्त्व की

प्रकाश-विमर्शात्मकता जैसे सिद्धान्त भी सहायक हो सकते हैं। उनको हम यहाँ क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

स्वात्मदेवता

अपनी आत्मा को ही देवता मानने वाले वचन बौद्ध एवं शाक्त तन्त्रों में मिलते हैं। अद्वयवज्र प्रकाश को देवता-स्वरूप मानते हैं और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में उसको प्रकाश-विमर्श स्वरूप माना गया है। प्रकाश शिवस्वरूप और विमर्श शक्तिस्वरूप है और इनकी स्थिति अविनाभाव संबन्ध से है। सभी सत्त्वों की बुद्धमयता का प्रतिपादन बौद्ध तन्त्रों में भी हुआ है। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द (पृ. ३०) का कहना है कि युक्तिपूर्वक विचार करें, तो यह स्वात्मदेवता अपनी संवित्ति के स्फुरण के सिवाय और कुछ भी नहीं है, अतः यह प्रकाश ही सारे विश्व की उपास्य देवता है। यह प्रकाश स्वात्मस्वरूप ही है। परतत्त्व की यह परिभाषा चार्वाक दर्शन के साथ आधुनिक वैज्ञानिक को भी मान्य हो सकती है।

एक ही जन्म में मुक्ति

"मुक्ति (मोक्ष) एक ही जन्म में मिल सकती है"—यह सिद्धान्त शैव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में स्वीकृत है। भगवद्गीता और महायान मत की यह मान्यता है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद ही मुक्ति मिल पाती है, किन्तु अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३०) के अनुसार शैव मत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर आदि शैव ग्रन्थों में तथा गुह्यसिद्धि, चण्डरोषण जैसे बौद्ध तन्त्रों में भी इस सिद्धान्त को मान्यता मिली है। ख्रीष्ट, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी जन्मान्तर में विश्वास नहीं रखते। एक ही जन्म में मुक्ति का यह सिद्धान्त इन सेमेटिक धर्मों में भी कुछ संशोधन प्रस्तुत कर सकता है। वहाँ अनन्तकाल तक जीव ईश्वर के न्याय की प्रतीक्षा में रहता है और यहाँ उसको तुरन्त मुक्ति मिल जाती है। वैदिक कर्मकाण्ड के समान ही ये सभी सेमेटिक धर्म भी पुण्य-पाप एवं स्वर्ग-नरक से ऊपर नहीं उठ पाये हैं।

स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा

एक ही जन्म में मुक्ति को चाहनेवाली सामान्य जनता का भी उपकार करने की इच्छा से भट्ट उत्पल ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन की रचना की थी। इसके लिए उन्होंने शैवागमों के द्वैतवाद की जगह अद्वयवाद की, शांकर मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद की और बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद के स्थान पर नित्य स्वात्मेश्वरवाद की अपने दर्शन में प्रतिष्ठा की थी। सूफी सन्त इसी दर्शन से अनुप्राणित थे। आज इसी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ऊपर वर्णित तन्त्रागमीय समता-दृष्टि, शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था, विधि-निषेध मीमांसा

आदि का सहारा देकर तथा जाति आदि के दुराग्रहों को दूर कर एवं सत्तर्क और स्वानुभव का महत्त्व स्वीकार कर इसके माध्यम से पूरी मानवता को एक नया संदेश देने की आवश्यकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम परतत्त्व की सरलतम सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करें।

परतत्त्व का स्वरूप

प्रकाश-विमर्शात्मक परतत्त्व की और स्वात्मदेवता की चर्चा अभी हो चुकी है। अभिनवगुप्त ने ई. प्र. वि. (भा. २, पृ. २०९) में विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना है। विज्ञानभैरव यह नाम भी इसी ओर इंगित करता है। सत्तर्क और स्वानुभव से जिस स्वात्मदेवता की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह परतत्त्व यहाँ प्रकाश-विमर्शात्मक माना गया है। यह सारा जगत् उस प्रकाश-विमर्शात्मक परतत्त्व का, 'अहम्' का विलास है। अपनी अहन्ता को वह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर लेता है और फिर वही परप्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है। परतत्त्व की इससे भी सरल परिभाषा शाक्त त्रिपुरा दर्शन की है। वहाँ बिन्दुत्रय (शुक्ल-रक्त-मिश्र)के समष्टीभूत समरस महाबिन्दु को ही संवित्स्वरूपा परा भगवती माना गया है।

इस प्रकार हमने यहाँ आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि की और उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। आजकल मानवाधिकारों की बहुत चर्चा है। ऊपर विश्लेषित सामाजिक दृष्टि में मानव के केवल भौतिक अधिकारों की ही चर्चा नहीं है, किन्तु व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक संपूर्णता को भी प्राप्त कर सकता है। तब वह अपने अधिकारों तक ही सीमित न रहकर अभावग्रस्त मानवता की सहायता के लिए व्यक्तिगत एवं सामाजिक जिम्मेदारियों, कर्तव्यों के प्रति भी सजग हो उठता है। अपने इन अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आगे बढ़ने में जो बाधाएँ आती हैं, उनकी यहाँ स्पष्ट रूप से चर्चा की गई है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों का यह आग्रह है कि उनके धर्म में दीक्षित होने पर ही व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी और वह भी एक नियत अवधि के आने पर ही। आगम-तन्त्रशास्त्र इस प्रकार के सभी आग्रहों और नाना प्रकार की शंकाओं के साथ शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध आदि से भी व्यक्ति को ऊपर उठाकर, साथ ही सत्तर्क और स्वानुभव के सहारे सही निष्कर्ष तक पहुँचा कर सर्वविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है।

आधुनिक साम्यवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पृष्ठभूमि में जय-पराजय की भावना को, राग और द्वेष को उभाड़ता है। इसको साम्यवाद नाम देना एक विकल्प-व्यापार ही है। प्रो. मुकुटबिहारीलाल जी ने अपने ग्रन्थ ''साम्ययोगमीमांसा'' में इसको

अधिक स्पष्ट रूप दिया है, यह हम अभी ऊपर बता चुके हैं। आगम-तन्त्रशास्त्र में एक परिशुद्ध समता-दृष्टि का विकास बहुत पहले हो चुका था। इस समता-दृष्टि की पृष्ठभूमि में समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर सर्वत्र सामंजस्य स्थापित कर मानव अपने भीतर देवभाव को जगा सकता है। इतना ही नहीं, वह ''**परस्परदेवो भव**'' इस उपनिषत्कल्प विधि-वाक्य के सहारे पूरी मानवता में भी देवभाव को देख सकता है। योगी अरविन्द ने अपने अतिमानस योग में इसी स्थिति की तो कल्पना की है। भारतीय दर्शनों में जीवन्मुक्ति की अवधारणा मान्य है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए शास्त्रों में बताया गया है कि यहाँ पुण्य और पाप की भी कोई सत्ता बची नहीं रहती। यह स्थिति कर्मसाम्य के नाम से वहाँ वर्णित है। पुण्य और पाप से ऊपर उठकर मानव पूरी मानवता में अपने स्वत्व का विस्तार कर लेता है, तब उसमें बुद्धत्व एवं शिवत्व की भावना अभिव्यक्त हो उठती है।

●●●

मृत्यु के नाना प्रकार

नित्याषोडशिकार्णव नामक त्रिपुरा-तन्त्र के दो टीकाओं के साथ हुए वाराणसी-संस्करण में—''**न बाध्यते रोगैः कालमृत्युयमादिभिः**'' (५.३३) यह वचन उपलब्ध है। भास्करराय की टीका में यह ३४वाँ श्लोक है। यही ग्रन्थ कश्मीर में वामकेश्वरीमत के नाम से प्रकाशित है और इस पर अभिनवगुप्त के ग्रन्थ तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने विवरण नामक टीका लिखी है। यहाँ 'यमादिभिः' के स्थान पर 'भयादिभिः' पाठ भी मिलता है। अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द ने और विवरणकार ने भी इन शब्दों की कोई व्याख्या नहीं की है। ऋजुविमर्शिनी-टीका के लेखक शिवानन्द मुनि ने 'आदि' पद से व्याधि का ग्रहण कर काल, मृत्यु, यम और व्याधि शब्दों के अर्थ को बताने वाले दो श्लोक उद्धृत किये हैं—

कालो मृत्युर्यमो व्याधिस्तत्त्वतस्त्वेक एव तु।
वृत्त्यन्तरविशेषेण पर्यायेणाभिधीयते॥
सर्वावच्छेदकः कालो मृत्युर्मारयिता च सः।
यमनाद् यम एवायं व्याधिश्चिन्ताप्रदो हि सः॥

यहाँ बताया गया है काल, मृत्यु यम और व्याधि—ये सब वास्तव में एक ही तत्त्व के पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु प्रवृत्ति के भेद के अनुसार इनको ये अलग-अलग नाम दे दिये गये हैं। इसे काल इसलिए कहते हैं कि यह सबको अपने में समेट लेता है, इसे मृत्यु इसलिए कहा जाता है कि यह सबको मार डालता है, इसे यम इसलिए कहते हैं कि यह सब पर नियन्त्रण रखता है और इसे व्याधि इसलिए कहा जाता है कि व्याधि से ग्रस्त व्यक्ति को यह चिन्ता सताने लगती है कि कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय। आदि पद से व्याधि के ग्रहण का यही आधार है।

भास्करराय इस प्रकरण की व्याख्या भिन्न पद्धति से करते हैं। वे **आदि** पद से **व्याधि** के स्थान पर **परकृत्या** का ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि **रोग** और **व्याधि** में कोई अन्तर नहीं है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि **रोग** शब्द मूल वचन में विद्यमान है। अब उसके पर्यायवाची शब्द **व्याधि** का **आदि** पद से ग्रहण करने का कोई तुक नहीं है। उनका यह भी कहना है कि काल, मृत्यु और यम—ये सब अलग-अलग देवताओं के नाम हैं, अतः इनकी भिन्नता ही मान्य होगी।

भास्करराय ने इसी पद्धति से पाँच पटल वाले इस ग्रन्थ को आठ पटल का मान कर हादिविद्या के आधार पर ग्रन्थ की व्याख्या करने वाले प्राचीन टीकाकारों के मत का खण्डन कर कादिविद्या में अपने विशेष अभिनिवेश के कारण तदनुसार की है। एक स्थान पर तो उन्होंने मूल पाठ को ही बदल दिया है (पृ. २ की टिप्पणी देखिए)। यही स्थिति प्रस्तुत स्थल की भी है।

स्वामी करपात्री जी महाराज ने अपने वेदार्थपारिजात-नामक वेदभाष्य की अतिविस्तृत भूमिका में भट्ट कुमारिल के इस श्लोक को उद्धृत किया है—

तस्मान्नातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को अपने मन की सर्वत्र दोष-ही-दोष देखने की दृष्टि को बहुत बढ़ा नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर ऐसे लोगों को दोष के न रहने पर भी वह दिखाई देने लगता है। भारतीय संस्कृति में सर्वत्र दोष-ही-दोष देखने की आजकल के प्रगतिशील! बुद्धिजीवियों की दृष्टि की भी व्याख्या इससे हो जाती है।

कठोपनिषद् में यम और नचिकेता का संवाद है। नचिकेता को उसके पिता— "मृत्यवे त्वा ददामीति" (१.१४) कह कर मृत्यु को समर्पित कर देते हैं। प्रस्तुत उपनिषत् में मृत्यु को ही वैवस्वत (१.१.७) और अन्तक (१.१.२६) भी कहा गया है। ये दोनों यम के ही नाम हैं। मनु के—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥

(मनुस्मृति, ८.९२) इस वचन में यम को ही वैवस्वत देव, अर्थात् विवस्वान्=सूर्य देवता का पुत्र बताया गया है। यहाँ कहा गया है कि तुम्हारे हृदय में विद्यमान वैवस्वत देव, अर्थात् धर्मराज के साथ यदि तुम्हारा कोई विवाद नहीं है, अन्तरात्मा की आवाज सुनकर तदनुरूप आचरण करने का तुम्हारा स्वभाव बन गया है, तो फिर तुम्हें गंगा स्नान करने अथवा कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थों की यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय की शुद्धि के लिए कर्मों का अनुष्ठान मुमुक्षुजन करते हैं। यदि यह हृदय परिशुद्ध हो गया है, तब इस तरह के शुभ कर्मों के अनुष्ठान की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती।

आजकल का मनोविज्ञान भी बहिर्मन और अन्तर्मन की सत्ता को स्वीकार करता है। मनुस्मृति के प्रस्तुत श्लोक में भी मन की इन्हीं स्थितियों की ओर इंगित किया गया है। स्पष्ट है कि कठोपनिषद् के उक्त वचन में मृत्यु को यम का पर्यायवाची शब्द माना गया है। योगशास्त्र की कालवंचन की प्रक्रिया में काल शब्द मृत्यु का ही सूचक है। स्पष्ट है कि काल, मृत्यु और यम शब्द पर्यायवाची हैं और ऋजुविमर्शिनीकार के द्वारा उद्धृत वचन भी उनके मत की पुष्टि करता है, भास्करराय के मत की नहीं।

प्रस्तुत उपनिषत् में यमराज नचिकेता को तीन वर माँगने को कहते हैं और नचिकेता तीसरे वर के रूप में मृत्यु के रहस्य को जानने की जिज्ञासा करते हैं—"**येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके**" (१.१.२०)। अर्थात् व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के उपरान्त यह विचिकित्सा (जानने की प्रबल इच्छा) होती है कि

उसकी क्या स्थिति बनती है ? कुछ आचार्यों का कहना है कि मृत्यु के बाद भी उसका अस्तित्व रहता है, जब कि अन्य आचार्यों के मत से बाद में उसकी कोई स्थिति नहीं रह जाती। सही बात क्या है ? यह नचिकेता यमराज से जानना चाहते हैं। प्रस्तुत गोष्ठी में हम सब भी तो इसी विषय पर विचार करने के लिए इकट्ठा हुए हैं।

इसके उत्तर में यम नचिकेता को अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं और कहते हैं— "**नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः**" (१.१.२५)। हे नचिकेता! तुम मृत्यु के रहस्य को जानने की जिद को छोड़ दो। नचिकेता—"**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**"(१.१.२७) कहते हुए यम के धन-धान्य, ऐश्वर्य विषयक प्रस्ताव को उसी तरह से अस्वीकार कर देते हैं, जैसे ऋषि याज्ञवल्क्य के प्रस्ताव को—"**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**" (बृहदा. २.४.३) यह कहती हुई उनकी पत्नी मैत्रेयी अस्वीकार कर देती है। नचिकेता यम को कहते हैं कि मनुष्य धन-ऐश्वर्य से कभी तृप्त नहीं हो सकता और मैत्रेयी भी ऋषि याज्ञवल्क्य की धन-संपत्ति को लेने से मना कर देती है, उसे तो अमृतत्व की जिज्ञासा है।

मृत्यु के रहस्य को जानने की नचिकेता की उत्कट अभिलाषा को देखकर यमराज इस पूरी उपनिषद् में इसके रहस्य को समझाते हैं। श्रेय और प्रेय, विद्या और अविद्या के स्वरूप को बताते हुए वे कहते हैं कि धन-धान्य, ऐश्वर्य के मोह में पड़कर व्यक्ति भविष्य में आने वाली विपदाओं से बेखबर रहता है, वह परलोक की भी चिन्ता नहीं करता। इस तरह की विपदाओं से मानव का उद्धार करने वाले शास्त्रों के प्रति भी उसकी रुचि जग नहीं पाती। इन सब दोषों से ऊपर उठ जाने के कारण नचिकेता की प्रशंसा करते हुए यमराज कहते हैं— "**अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे**" (१.२.६)। अर्थात् इस लोक के अतिरिक्त दूसरा कोई लोक नहीं है, इस तरह के अभिमान को पालने वाला व्यक्ति बार-बार मेरे (यमराज के) वश में पड़ जाता है। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जो व्यक्ति परलोक को नहीं मानता, उसे बार-बार यमराज के वश में रहना पड़ता है, अर्थात् वह जन्म-मृत्यु के निरन्तर गतिशील चक्र में चक्कर काटता रहता है। आगे इस पूरे उपनिषद् में मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की पद्धति वर्णित है।

पूरा उपनिषत्-साहित्य मनुष्य की मृत्यु पर की गई विजययात्रा का दस्तावेज है, संसार को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने वाला यह उत्कृष्टतम साहित्य है। यहाँ स्वर्ग का स्थान मोक्ष को दिया गया है। सांख्यदर्शन का कहना है कि आनुश्रविक (वेदविहित) उपाय प्राणी को त्रिविध दुःख से मुक्ति नहीं दिला सकते। स्वयं श्रुति का भी कहना है कि वैदिक कर्मकाण्ड संसार-सागर की यात्रा में सहायक नहीं हो सकता—"**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः**" (मुण्डको. १.२.७)। एक अन्य श्रुति का भी कहना है कि कर्मों के द्वारा प्राप्त होने वाले विविध लोकों की परीक्षा करने के उपरान्त ब्राह्मण हताश हो गया कि कृतक (कर्मकाण्ड) से अकृतक (मोक्ष) की प्राप्ति

नहीं हो सकती—"**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन**" (मुण्डको. १.२.१२)। भगवद्गीता के इस वचन को भी आप देखिए—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (२.४६)

मुक्त पुरुष को इस संसार में पुनः लौटकर नहीं आना पड़ता—"**न स पुनरावर्तते**", मोक्षविषयक यह सिद्धान्त सभी भारतीय दर्शनों को मान्य है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द मोक्ष से भी पुनरावृत्ति की बात करते हैं और इसमें ऋग्वेद को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इतना हमें समझ लेना चाहिए कि प्रायः समस्त संहिता-ग्रन्थ कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हैं और वहाँ का अमृत पद स्वर्ग का वाचक है, मोक्ष का नहीं। समस्त उपनिषदों में, समस्त भारतीय दर्शनों एवं धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में भी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की विशद व्याख्या मिलती है। त्रिवर्ग, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का भी विनियोग मोक्ष की प्राप्ति में किया गया है और यहाँ तक पहुँच जाने के बाद व्यक्ति को वापस संसार में लौटना नहीं पड़ता, वह मुक्त हो जाता है। मुक्त जीव किस शाश्वत स्थिति में रहता है, इस विषय पर प्रत्येक दर्शन की अपनी-अपनी मान्यता है, किन्तु मृत्यु के पाश से वह सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है, इस विषय में सभी दर्शन एकमत हैं।

भारतीय शास्त्रों में और साधारण जनता में भी यमराज के साथ उसके दूतों के रूप में दो श्वानों की चर्चा मिलती है। विज्ञानभैरव के—"**व्रजेत् प्राणो विशेज्जीवः**" (श्लो० १५१) इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या (पृ. १६६-१७२) में हमने सकार-हकार, प्राण-अपान, दिन-रात और चन्द्र-सूर्य के रूप में इनका शास्त्रीय स्वरूप प्रस्तुत किया है। सकार और हकार के उच्चारण से उत्पन्न जप को सहज, अर्थात् अकृत्रिम (स्वाभाविक) बताया गया है। अजपा जप के नाम से भी यह प्रसिद्ध है। इसीको हंसगायत्री भी कहा गया है। मानव की स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया का ही इससे बोध होता है। प्राण और अपान (श्वास और प्रश्वास) के रूप में वर्णित यह तत्त्व बौद्ध ग्रन्थों में आनापानस्मृति के रूप में व्याख्यात है। दिन-रात में मानव २१६०० (इक्कीस हजार छः सौ) बार इसकी आवृत्ति करता है। विज्ञानभैरव के प्रस्तुत श्लोक में अपान को जीव के नाम से संबोधित किया गया है। श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में प्राण सकार के रूप में बाहर निकलता है और अपान (जीव) हकार के रूप में भीतर प्रविष्ट होता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, किन्तु जीव (अपान) यदि मानव-शरीर में पुनः प्रविष्ट नहीं होता, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार यमराज के दो श्वानों की व्याख्या यहाँ प्राण और अपान, अर्थात् श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के रूप में की गई है—"**प्राणापानौ समौ कृत्वा**" (५.२७) गीता के इस वचन में इन्हींकी चर्चा है।

उक्त प्रक्रिया दिन-रात और चन्द्र-सूर्य के रूप में व्याख्यात है। यहाँ यमराज के दो श्वानों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"**श्वानौ द्वौ श्यावशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ**" (पृ. १७१) अर्थात् वैवस्वत (यमराज) के कुल में उत्पन्न दो श्वान श्याव और शबल (चितकबरा) वर्ण वाले हैं। इन श्वानों की तुलना रात और दिन से की गई है। रात्रि का वर्ण श्याव (काला) है और दिन का शबल। दिन का वर्ण प्रात:काल लाल, मध्याह्न में शुक्ल और सायंकाल कालिमा से घिरने लगता है, अत: इसको चितकबरे रंग का माना गया है। स्पष्ट है कि यम के श्वानों को यहाँ रात और दिन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रात और दिन के माध्यम से काल सतत जागरूक रहता है और एक दिन व्याधिग्रस्त यह जीव काल का ग्रास बन जाता है, मृत्यु की भेंट चढ़ जाता है। स्पष्ट है कि काल, मृत्यु, यम और व्याधि—ये सब एक ही तत्त्व के विविध नाम-रूप हैं।

अब कालिदास के इस वचन को आप देखिए—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥ (रघुवंश, ८.८७)

कालिदास ने यहाँ मरण (मृत्यु) को प्रकृति माना है, अर्थात् एक-न-एक दिन उसका आना निश्चित (ध्रुव) है। जीवन के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता, अत: मनुष्य को चाहिए कि जीवन के इन क्षणों का सही उपयोग कर लिया जाय, अर्थात् मरण पर विजय प्राप्त करने का उपाय कर लिया जाय।

योगीजन इसके लिए अधिक सावधान रहते हैं। कालवंचन शब्द की चर्चा अभी यहाँ (पृ. ९०) हुई है। योग एवं आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में और पुराणों में भी कालवंचन के विषय में कुछ-न-कुछ कहा गया है। मृत्युकाल के समीप आने पर उस व्यक्ति के सामने प्रकट होने वाले लक्षणों की चर्चा कर ऐसे स्थलों पर बताया गया है कि यदि किसी कार्य की सिद्धि में लगा योगी अपने वर्तमान शरीर को अभी छोड़ना नहीं चाहता, तो वह इसके लिए क्या उपाय करे? ये उपाय ही कालवंचन के रूप में प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में बताए मृत्यु के लक्षणों के माध्यम से योगी को यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी मृत्यु कब आने वाली है। तब वह कार्य-सिद्धि पर्यन्त मृत्यु से अपने को बचाए रखता है।

जन्म और मृत्यु का यह चक्र सदा-सर्वदा के लिए कभी नहीं रुकता। आगमशास्त्र के अनुसार परमेश्वर पंचकृत्यकारी है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह नामक पाँच कार्यों को निरन्तर करता रहता है। किसी एक जीव के मुक्त हो जाने पर उसके प्रति ईश्वर की पंचकृत्यकारिता समाप्त हो जाती है, किन्तु सेमेटिक धर्मों की मान्यता है कि एक दिन यह सब सदा-सर्वदा के लिए अपने आप समाप्त हो जायगा।

●●●

समग्र भारतीयता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

गुजरात के चुनाव-परिणामों ने 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' यह एक अच्छा शब्द दिया है। इसको हिन्दुत्व का पर्यायवाची मानकर इसका विरोध भी होने लगा है। राष्ट्रवाद के विरोधी इस कार्य को करें, यह तो स्वाभाविक ही है, किन्तु ये हिन्दुत्व के समर्थकों को भी यह समझाने में सफल होते-से लग रहें हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हिन्दुत्व का ही पर्यायवाची शब्द है और वे इन विरोधियों के आगे आतंकित से लगते हैं। हमें ऐसा लग रहा है कि राष्ट्रीयता का प्रतीक यह शब्द कहीं असमय में ही काल के गाल में न समा जाय। हिंसक आतंकवाद तो अर्धविक्षिप्त दुराग्रही मानवों की देन हो सकती है, किन्तु इस बौद्धिक आतंकवाद को फैलाने वाले कौन हैं? मानवतावाद के नाम पर कश्मीर के समाय गुजरात में भी अब यह अपना काम करने लगा है।

सम्प्रदाय जैसे प्राचीन पवित्र शब्द के साथ आजकल का सेक्युलर शब्द भी यहाँ अपने सही अर्थ को खो चुका है। एक सेक्युलर शब्द का धर्म-निरपेक्ष, सम्प्रदाय-निरपेक्ष, पन्थ-निरपेक्ष, बिन सम्प्रदाय जैसे दो शब्दों में अनुवाद कर हम अपने बौद्धिक अवसाद को ही प्रकट कर रहे हैं और आपस में गाली-गलौज के रूप में इनका प्रयोग कर रहे हैं। जो व्यक्ति आज की दुनिया के विभाजक विचारों से जुड़े हुए हैं, वे अपने को सेक्युलर और चिरकाल से जो विचारधारा समन्वय-संस्कृति में विश्वास करती है, उसको साम्प्रदायिक कहा जाता है। हिन्दुत्व के अभिमानी छद्म शब्द जोड़कर इस सांस्कृतिक युद्ध को जीतने के लिए ताल ठोक रहे हैं।

हिन्दू शब्द हमारा अपना नहीं है। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय शास्त्रों में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। यह हमें तोहफे में मिला है और इस उपहार को जबसे हमने गले लगाया है, तबसे दुनिया के इतिहास में पराजित जाति के रूप में ही अपना नाम दर्ज करा पाये हैं। इतिहासकारों ने इस शब्द की इतनी छीछालेदर कर दी है कि इसमें बौद्धों, जैनों, सिक्खों जैसे वर्गों का भी हम समावेश नहीं कर सकते, जबकि हिन्द और हिन्दू शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो यहाँ रहने वाली पूरी भारतीय प्रजा के लिए इस शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। इसके विपरीत आज मुसलमान शब्द के साथ मिलकर यह शब्द पुराने जमाने के श्रमण और ब्राह्मण शब्दों की याद दिलाता है, जिनके कारण यह कहा गया कि भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा उसी तरह से अग्राह्य है, जैसे चमड़े की बनी कुप्पी में रखा हुआ घी। आज हिन्दुत्व के प्रति आक्रोश प्रकट करने वालों की मानसिकता क्या इससे भिन्न है?

आजकल पासपोर्ट में व्यक्ति की केवल राष्ट्रीयता अंकित रहती है, उसके धर्म, जाति आदि की इसमें कोई चर्चा नहीं रहती। उसी तरह से जनगणना आदि में भी होना चाहिए। इस भारत देश में रहने वाली सारी प्रजा भारतीय है, सांस्कृतिक

धरातल पर इन सबमें भारतीयता की भावना का, भावात्मक एकता का संचार होने पर ही यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना हो सकती है।

गंगा-जमुनी संस्कृति से यह कार्य नहीं हो सकता। प्रयागराज में गंगा और यमुना का प्रवाह कुछ दूर तक जरूर अलग-अलग रंग का लगता है, किन्तु अन्ततः इनकी धाराएँ एकरस हो जाती हैं। वाराणसी में यह गंगा ही कहलाती है। आगे भी इसमें नाना नद-नदियाँ मिलती हैं और अन्ततः यह स्वयं भी सागर में विलीन हो जाती है। तब भी गंगासागर के रूप में वह अपना नाम नहीं छोड़ती। भारतीय संस्कृति की भी यही स्थिति है। गंगा में जैसे नाना नद-नदियों का जल मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी तरह इस भारतीय संस्कृति में वैदिक, जैन, बौद्ध, आगमिक, पौराणिक और सन्तों की साहित्यधारा का ही नहीं, सूफियों और ईसाई-सन्तों की वाणियों का भी विगत एक हजार वर्षों में पर्याप्त संमिश्रण हुआ है। हम इन सबके उत्कृष्ट अवदानों को ग्रहण कर इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना कर सकते हैं।

भारत में तो धर्मों में भी परस्पर सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास स्मार्त धर्म के रूप में हुआ है। पंचायतन या षडायतन पूजा के रूप में यह प्रसिद्ध हुआ। वाराणसी के काशी विश्वनाथ मन्दिर को हम उदाहरण के रूप में पेश कर सकते हैं। यहाँ मुख्य देवता भगवान् शिव हैं। इनके साथ ही यहाँ चारों कोणों में स्थापित शक्ति, गणेश, सूर्य और स्कन्द की भी उपासना प्रत्येक शिवभक्त करता है। इस पंचायतन पूजा के विष्णुप्रधान, शक्तिप्रधान आदि के रूप में पंचविध प्रकारों का वर्णन स्मार्त तन्त्रों में सुव्यवस्थित रूप में मिलता है। केरल में सुब्रह्मण्य (कुमार स्कन्द) का समावेश कर षडायतन पूजा का क्रम निर्दिष्ट है। इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए आज भी सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इस प्रयोग को पुनः दुहरा सकते हैं। तदनुसार हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के माध्यम से सभी संस्कृतियों और धर्मों में भी सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं, ताँकि इस भारत देश में निवास कर रही समग्र भारतीय प्रजा तो सुख-शान्ति से रहने ही लगेगी, हम अन्यत्र भी इस दृष्टि को फैला सकेंगे।

आचार्य नरेन्द्रदेव के सहयोगी समाजवादी विद्वान् प्रो० मुकुटबिहारीलाल ने किसी इस्लामिक विद्वान् को उद्धृत करते हुए लिखा है कि भारत में गिने-चुने पारसी सैकड़ों वर्षों से सुख-शान्ति से रह रहे हैं, तो करोड़ों की संख्या में रहने वाले मुसलमानों पर कौन-सी विपत्ति आ सकती है ? इस कथन पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए और किसी भी भारतीय को भरमाने की कुचेष्टा से हमें विरत रहना चाहिए। जनतन्त्र में पक्ष-विपक्ष की भूमिका मान्य है। इनमें परस्पर शत्रुवत् व्यवहार कभी भी मान्य नहीं होना चाहिए। भारत में ऐसा क्यों हो रहा है ? इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना होगा।

भारत की विगत एक हजार वर्ष पहले की प्रत्येक उपलब्धि को भगवाकरण के नाम से झुठला देने का एक विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है। पंचतन्त्र का पहला पारसी अनुवाद ५५० ई० में पूरा हो चुका था। इसीके आधार पर विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। हिन्दस्का विश्व को भारत की देन है। महान् अरबयात्री अलबेरुनी तक भारतीय साहित्य से समस्त अरब देश ही नहीं, यूरोप भी लाभान्वित हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, भरत के नाट्यशास्त्र, समृद्ध शिल्पशास्त्र और संगीतशास्त्र आदि के अवदानों को कौन झुठला सकता है। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी में सैकड़ों भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ, बृहत्तर भारत के रूप में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विस्तार हुआ, आधुनिक इतिहासज्ञों को भी इसको मान्यता देनी पड़ी है। एक हजार वर्ष तक भारत का शिष्य बना चीन अगली सहस्राब्दी में इस्लाम का चेला बन गया और अब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अगुआ बन बैठा है। धर्मान्तरण की प्रक्रिया अलग से चल रही है। गुजरात के चुनाव-परिणामों के विश्लेषण के प्रसंग में गोधरा और गुजरात-हत्याकाण्ड की तो चर्चा होती है, किन्तु गुजरात के अक्षरधाम और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर की कोई चर्चा करना नहीं चाहता। वस्तुतः गोधरा और गुजरात के बाद आतंकवादियों के द्वारा किये गए ये हमले ही राष्ट्रतोड़कों के मंसूबों पर पानी फेरने में समर्थ हुए हैं और इन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पनपाने का भी काम किया है। इसे हमें सभी भारतीयों की सहायता से परिपुष्ट करना होगा।

●●●

साहित्य, सभ्यता एवं संस्कृति

स्थापना

मानव की सृष्टि के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का भी विकास होने लगता है। किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि अर्थ से सभ्यता का और धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। साहित्य इसका वाहक एवं स्थापक माना जाता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि में विकसित हुई प्राचीन सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का परिचय हमें प्राचीन साहित्य से ही मिल पाता है। प्राचीन ईजिप्ट, ग्रीक, रोम आदि देशों की समृद्ध संस्कृति से और वहाँ की सभ्यता से हम वहाँ के पुरावशेषों की एवं साहित्य की सहायता से परिचित हो पाते हैं। मानवीय युद्धोन्माद अथवा उपेक्षा के कारण अधिकांश प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया है। अनेक देशों ने और वहाँ रहने वाली मानव-जातियों ने आक्रामक देशों की साहित्य-संस्कृति से प्रभावित होकर उनको स्वीकार कर लिया और अपना सब कुछ भुला बैठे। बहुत थोड़े से ही ऐसे देश हैं, जो अपने साहित्य, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करते हुए दूसरों के साहित्य और संस्कृति से भी लाभान्वित हुए। ऐसे देशों में हम भारत और चीन का नाम गौरव के साथ ले सकते हैं।

साहित्य, सभ्यता और संस्कृति शब्दों की प्रवृत्ति जिन अर्थों में होती है, वे नवीन ही माने जायेंगे। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में "**साहित्य-संगीत-कलाविहीनः**" जैसे स्थलों पर साहित्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यह शब्द वहाँ शास्त्रविशेष में रूढ़ है। इसी तरह संस्कृति शब्द का प्रयोग संस्कार के अर्थ में किया जाता था। अब पाश्चात्य समाज के लिटरेचर और कल्चर शब्दों के अनुवाद के रूप में इनका प्रयोग होने लगा है। इसी तरह साहित्य शब्द अपने पुराने अर्थ को छोड़कर सम्पूर्ण वाङ्मय के लिए प्रयुक्त होता है। संस्कृति और सभ्यता शब्द मानव-जीवन की विशेषताओं, उनके आधार पर निर्मित वंश-परम्पराओं की विशिष्ट जीवन-प्रणालियों, कलाओं एवं विभिन्न प्रकार के आचार-विचारों को सूचित करते हैं।

संस्कृति नदी के जल के समान सतत गतिशील रहती है। निरन्तरता और गतिशीलता इसके स्वाभाविक गुण हैं। सभी देशों की सभ्यताओं एवं संस्कृतियों में इनको देखा जा सकता है। आप भारतवर्ष को ही लीजिये। सर्वप्रथम यहाँ वैदिक वाङ्मय का विस्तार हुआ। बाद में जैन और बौद्ध धर्म के विकास के साथ इनके साहित्य का भी विस्तार हुआ। पाश्चात्य विद्वानों तथा अनेक भारतीय विद्वानों ने भी इसे श्रमण-साहित्य नाम दिया है। आजकल वैदिक वाङ्मय के लिए ब्राह्मण-साहित्य शब्द प्रयुक्त हो रहा है। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रिटिश

कुटिलनीति ने संपूर्ण बौद्ध जगत् से भारत को अलग-थलग कर देने के लिए इस शब्द को अपना लिया। आजकल ब्राह्मणवाद के रूप में इस शब्द को जिलाया जा रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि जैन साहित्य में वैदिक शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, ब्राह्मण शब्द नहीं। सभी धर्मों के प्रति समादरभाव व्यक्त करने में जैनों की अनेकान्त दृष्टि बहुत सहायक है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद आज के राजनीतिज्ञों के दिमाग की उपज है। आज का समाज ब्राह्मणों से नहीं, मठाधीशों से और मनुस्मृति से नहीं, डॉ० अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित भारतीय संविधान से संचालित है।

प्रसंगवश यहाँ वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति और श्रमण संस्कृति शब्दों पर विचार कर लेना जरूरी लगता है। एक वर्ग ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति को परस्परविरोधी विचारधारा के रूप में स्थापित करने के लिए ''येषां च विरोध: शाश्वतिक:'' पाणिनि के इस सूत्र को कात्यायन का वार्त्तिक मानकर उदाहरण के रूप में 'श्रमणब्राह्मणम्' यह उदाहरण देता है और कहता है कि पातंजल महाभाष्य में यह उदाहरण उपलब्ध है। इस विषय में हम एक निबन्ध की टिप्पणी में और बौद्ध विद्वानों की एक गोष्ठी में भी बहुत पहले बता चुके हैं कि पातंजल महाभाष्य में ही नहीं, पाँचवीं-छठी शताब्दी की रचना काशिकावृत्ति में भी यह नहीं मिलता, जबकि इस वृत्ति के रचयिता वामन और जयादित्य बौद्ध और जैन विद्वान् माने जाते हैं। बावजूद इसके अभी हाल में प्रकाशित ''भारतीय समाज एवं संस्कृति'' शीर्षक ग्रन्थ (पृ० १३३) में एक विद्वान् ने इस द्वेषपूर्ण उक्ति के प्रसंग में पतंजलि के नाम को उद्धृत किया है। अस्तु

गंगोत्री से निकल कर भगवती गंगा की पावन धारा हजारों वर्षों से निरन्तर बहती हुई भारत-भूमि को और भारती प्रजा को तन और मन से पवित्र करती रही है। स्थान-स्थान पर छोटी अथवा बड़ी नदियाँ इसमें मिलती हैं। इसके कारण इसके नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अतिपवित्र त्रिवेणी-संगम पर कुछ दूरी तक गंगा और यमुना की धाराएँ अलग-अलग बहती हुई लगती हैं, किन्तु अन्तत: वे भी एकाकार हो जाती हैं। इसी तरह हमारी भारतीय संस्कृति है। समय-समय पर बाहरी या भीतरी संस्कृतियाँ इसमें आकर मिल गई हैं। इतने मात्र से नाम में परिवर्तन कर देना कहाँ तक उचित माना जायगा। अनेक नदियों का गंगा के साथ संगम होने पर भी उसके नाम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तो भी उन-उन कुछ विशिष्ट नदियों का संगम होने पर उनकी क्षणिक विशेषताओं का आभास होने लगता है। वन, पर्वत, आदि स्थानों का प्रभाव भी पड़ता ही है। गंगोत्री, हृषीकेश, हरिद्वार आदि पर्वतीय स्थानों में तथा प्रयाग, वाराणसी, पटना जैसे मैदानी स्थानों में बह रही भगवती गंगा की विशेषताओं में स्पष्ट अन्तर देखने को मिलता है। यही स्थिति संस्कृति-गंगा की भी है। नाम में परिवर्तन न होने पर भी

उसके स्वरूप में कुछ न कुछ परिवर्तन आ ही जाता है। परिवर्तनशीलता के साथ निरन्तरता ही भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व हैं।

उदाहरण के रूप में वैदिक साहित्य के आधार पर विकसित भारतीय संस्कृति में जैन और बौद्ध साहित्य से विकसित श्रमण-संस्कृति नाम की धारा कुछ समय तक अपना स्वतन्त्र स्वरूप दिखाकर अन्त में उसी के साथ मिल गई है। अब वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति अथवा श्रमण संस्कृति की पृथक् चर्चा बेमानी है। छल-छद्म से भरी कपटनीति का खेल खेलने वाले पाश्चात्यों का यह प्रचारमात्र है। आज इसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं रह गई है। तन्त्रागमीय एवं पौराणिक धाराओं के साथ ये एकाकार हो चुकी हैं। वैदिक संस्कृति के साथ मिलकर श्रमण संस्कृति में धीरे-धीरे जो परिवर्तन आया, इसी से तन्त्रागमीय और पौराणिक धारा का विकास हुआ, ऐसा हम कह सकते हैं। सन्त-साहित्य का यह कथन—"जात-पात पूंछे नहि कोई" इसी की चरम परिणति है। भारतीय संस्कृति के इस उदात्त स्वरूप को हम भूल बैठे हैं और धर्म एवं संस्कृति को अलग न समझने की भूल कर रहे हैं।

वस्तुतः नैतिकता-प्रधान धर्म और आध्यात्मिक संस्कृति का कोई विरोध भी नहीं है। विरोध तब पैदा होता है, जब विभिन्न देशों और कालों में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिए विहित कर्मकाण्डों (धार्मिक पूजा-पद्धति) की बाढ़-सी आ जाती है। विभिन्न धर्मों के इस बहुरंगी देश में इसको आसानी से देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के साथ इसका संघर्ष होना ही है।

आज की पूरी मानव-जाति धर्म की संकीर्ण (कर्मकाण्डीय) व्याख्या से पीड़ित है। मनुप्रदर्शित दस प्रकार के लक्षणों वाले धर्म के स्थान पर आज का मानव अपने-अपने संप्रदाय के प्रति अति आग्रहशील है। भारतीय परम्परा में संप्रदाय शब्द अत्यन्त पवित्र माना जाता था। गुरु-परम्परा से प्राप्त उत्कृष्ट ज्ञान के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है, किन्तु आजकल परस्पर किसी न किसी छोटी-बड़ी बात पर झगड़ा लगाये रखने वाले मानव-समुदाय के लिए इसका प्रयोग होने लगा है। आज तो इसमें और भी विद्रूपता आ गई है। आजकल भारत में संकीर्ण साम्प्रदायिकता को छोड़कर उदारवादी विचार रखने वाले मानवसमूह को ही इस नाम से पुकारा जाता है। वहीं तक इसको सीमित कर दिया गया है और असली साम्प्रदायिक अब सेक्युलरिस्ट हो गये हैं।

साहित्य

वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य की चर्चा आ चुकी है। ब्राह्मण और श्रमण शब्दों की समीक्षा भी की जा चुकी है। कालक्रम से न्याय-वैशेषिक आदि विविध दर्शनों का, भागवत-पाशुपत आदि सम्प्रदायों का, विभिन्न तन्त्रागमीय शाखाओं तथा विशाल पुराण-उपपुराण वाङ्मय का यहाँ प्रादुर्भाव हुआ। ग्रीक एवं लेटिन भाषा का समृद्ध

साहित्य है। प्राचीन काल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक काल में भी विशाल साहित्य की रचना हुई है और इतिहास-ग्रन्थों में इनका परिचय भी उपलब्ध है। प्रसंगवश इसमें आई एक त्रुटि की ओर हम विद्वान् पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। बुद्धोत्तर काल में भारतवर्ष में विशाल तन्त्रागमीय साहित्य का विकास हुआ था। शांकर वेदान्त के आगे सुधारवादी आन्दोलनों के प्रवर्तकों ने भी इसकी पूरी उपेक्षा कर दी। अभी हाल में हालैण्ड से प्रकाशित १८ खण्डों के अंग्रेजी भाषा के संस्कृत साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ में आगमशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र के अलग-अलग खण्ड हैं। लखनऊ का संस्कृत संस्थान भी १८ खण्डों में हिन्दी भाषा में "संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास" प्रकाशित कर रहा है। इसके एकादश खण्ड में भी तन्त्रागमशास्त्र का परिचय मिलता है और सारनाथ से प्रकाशित "भारतीय तन्त्रशास्त्र" में भी। तिब्बती संस्थान के द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ में अनेक विषयों पर विचार-विनिमय में भाग लेने वाले विद्वानों के विचार भी संकलित हैं। इस पूरी सामग्री का समुचित विनियोग करते हुए "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" नामक बृहद् ग्रन्थ में हमने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त नामक छः शाखाओं का विस्तार से परिचय दिया है। "निगमागम संस्कृति" (पृ० १२९-१४६) में प्रकाशित "बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति" शीर्षक निबन्ध में हमने संपूर्ण बौद्ध साहित्य का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया है।

सभ्यता और संस्कृति के इतिहास के ग्रन्थों में औपनिषद दर्शन और तन्त्रागमशास्त्र के सामाजिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पक्ष पर किसी ने भी नहीं लिखा है और इसी कारण भारतीय संस्कृति बाह्य आक्रमणों से अभिभूत-सी होती जा रही है। हम इस प्रसंग में महामनीषी पं० श्री श्री गोपीनाथ कविराज जी को स्मरण करना चाहते हैं, जिन्होंने इस शास्त्र के प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ओर प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराया। कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त इस परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र थे और वे ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही उन सभी समस्याओं का समाधान कर चुके थे, जिनके लिए आज भारत और भारतीय संस्कृति लांछित हो रही है। अभिनवगुप्त से पहले कश्मीर में शैव, वैष्णव और बौद्ध आचार्यों की लम्बी परम्परा साथ-साथ चली है। इस पूरे साहित्य की पृष्ठभूमि में हमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास पर नये सिरे से विचार करना होगा।

सभ्यता

आजकल आध्यात्मिक संस्कृति उपेक्षित होती जा रही है और भौतिक सभ्यता (कला) के प्रतीक संगीत, नृत्य आदि के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। सभ्यता शब्द का प्रयोग इनके लिए नहीं के बराबर हो रहा है।

इस विकृति से मुक्त भारत ही संस्कृति के सही स्वरूप को दुनिया के सामने रख सकता है। प्रो० राजाराम शास्त्री ने संस्कृति के भौतिक और आध्यात्मिक विभाग करके बताया है कि भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो सभ्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति को संस्कृति के और भौतिक उन्नति को सभ्यता के नाम से जानना चाहिए। इसीलिए संस्कृति को धर्म से और सभ्यता को अर्थ से जोड़ा जाता है। हमारी दृष्टि में सभ्यता शब्द ६४ कलाओं से और संस्कृति शब्द संस्कारों से अधिक समरस है। ६४ कलाओं के नाम पुष्पदन्त के महिम्नस्तव के ७वें श्लोक की अतिविस्तृत मधुसूदनी टीका में देखे जा सकते हैं।

वाराणसी के विश्वविद्यालय प्रकाशन से अभी हाल में प्रकाशित ग्रन्थ ''भारतीय समाज एवं संस्कृति'' में सभ्यता और संस्कृति शब्दों पर विस्तार से विचार हुआ है। इस ग्रन्थ में ४२ विद्वानों के निबन्ध और अन्त में पाँच परिशिष्टों में आचार्य नरेन्द्रदेव की संस्कृति सम्बन्धी टिप्पणियाँ संगृहीत हैं। यहाँ सभ्यता और संस्कृति शब्दों के नानाविध अर्थ एवं व्याख्याएँ मिलती हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा सुझाये गये सचेत अध्ययन के आधार पर हमें भारतीय पृष्ठभूमि में इन पर विचार करना होगा। सभ्यता और संस्कृति को अभिन्न मान लेने वाले विचार हमें ग्राह्य नहीं हो सकते।

संस्कृति

आजकल सभ्यता शब्द का संस्कृति के अर्थ में और संस्कृति शब्द के लिए सभ्यता शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है। इस पर गंभीरता से विचार कर लेना जरूरी है। इन शब्दों के विषय में अभी यहाँ कुछ कहा गया है। अब हम विशेष रूप में संस्कृति के विषय में विचार करना चाहते हैं। यह बात सही नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्रायः वर्तमान अर्थ में ही यह शब्द शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में इस प्रकार मिलता है—''**संस्कृतिर्विश्ववारा**'' (७.१४)। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह शब्द उपलब्ध है—''**आत्मसंस्कृतिरेव शिल्पानि**'' (६.२७)। कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत और वादित्र की शिल्प में गणना की गई है। आजकल के सांस्कृतिक शिष्टमण्डल में इनका प्रधानरूप से समावेश रहता है। भारत में १६ संस्कारों का प्रतिपादन मिलता है। ये मानव के शरीर के साथ आत्मा का भी संस्कार करते हैं। मीमांसा दर्शन के शाबर भाष्य में संस्कार की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—''**संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य**'' (३.१.३)। यहाँ वस्तु के संस्कार की बात कही गई है और बादरायणसूत्र के इस शांकर भाष्य में—''**संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन स्याद् दोषापनयनेन वा**'' (१.१.४) आत्मसंस्कार भी चर्चित है। इस प्रकार यह संस्कार शब्द संस्कृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। स्पष्ट है

कि प्राचीन भारत में भी हमारे लिए संस्कृति शब्द अपरिचित नहीं है। "**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**" (३२.८) माध्यन्दिनसंहिता का यह वचन भी, जिसका उपयोग गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन के आदर्शवाक्य के रूप में किया है, संस्कृति से ही समरस हो पाता है।

"**यूनान, मिस्त्र, रोमा सब मिट गये जहाँ से** ......" इस उक्ति का यही अभिप्राय है कि जब पुरातन संस्कृतियाँ नामशेष रह गईं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने की अद्‌भुत सामर्थ्य इसमें है। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य—दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया है और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती-सी नजर आ रही हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने मोक्षपथ की यात्रा के लिए वैदिक कर्मकाण्ड को कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज पूरे विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघ कर सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रसार करने में ये आज भी समर्थ हैं। कठोपनिषद् कहती है—"**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**" (१.२७)। अर्थात् मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमें कहाँ ले जा रहा है?

आज की भारतीय संस्कृति के अजस्त्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, तन्त्रागमीय, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृति की धाराओं का जल मिलकर बहा रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का भी विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है?

आज भारत को धर्मनिरपेक्षता की नहीं, सर्वधर्म-समादर की अपेक्षा है। सेक्युलरिज्म भारत में विकृत हो चुका है। आज भारत का ही नहीं, विश्व का भी कल्याण भारतीय संस्कृति के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूप को स्वीकार करने से ही संभव है। **यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी सार्वभौम चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पाया है। आज भारत में फैल रहा सेक्युलरिज्म ऐसा होने भी नहीं देगा!**

●●●

ग्रन्थ समीक्षा

ग्रन्थ—भारतीय समाज एवं संस्कृति (परिवर्तन की चुनौती), निबन्ध संग्रह।

सम्पादक—श्री सत्यप्रकाश मित्तल।

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

आकार—डबल डिमाई, पृष्ठ संख्या XV, ३६४ प्रथम संस्करण, सन् २००३ ई०।

मूल्य—३८० रु०

१. प्रस्तावना

प्रस्तुत वर्ष (२००३ ई०) के प्रारम्भ में वाराणसी के विश्वविद्यालय प्रकाशन से ही ''एक विश्व : एक संस्कृति'' शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था और भारतराष्ट्र के उपराष्ट्रपति महामान्य श्री भैरोसिंह शेखावत ने उसे १० फरवरी, २००३ ई० को लोकार्पित किया था।

''भारतीय समाज एवं संस्कृति'' शीर्षक इस ग्रन्थ की समालोचना में हम इसलिए प्रवृत्त हुए हैं कि ''एक विश्व : एक संस्कृति'' में स्थापित मूल्यों को इससे कुछ समर्थन मिलता है। हमारे ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत समालोचना को देखा जा सकता है। समालोच्य ग्रन्थ के सभ्यता और संस्कृति सम्बन्धी उन तथ्यपूर्ण विचारों से हमारे विचार बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं और यत्र-तत्र विपरीत भावनाओं की समालोचना भी हमने की है। इसी विषय को विशद रूप में दिखाना हमारे इस लेखन का मुख्य प्रयोजन है। समालोच्य ग्रन्थ में अपने-अपने क्षेत्र के ख्यातनामा ४२ विद्वानों के प्रधान रूप से सभ्यता और संस्कृति सम्बन्धी विचार विभिन्न शीर्षकों से प्रकाशित हुए हैं। फलतः प्रस्तुत ग्रन्थ निबन्ध-संग्रह के रूप में हमारे सामने आता है। इस समीक्षा में हमने किसी भी विद्वान् का नाम न देकर केवल पृष्ठसंख्या अंकित की है। जिज्ञासा बढ़ने पर विज्ञ पाठक मूल ग्रन्थ को देख सकते हैं। सभ्यता और संस्कृति को यह ग्रन्थ समर्पित है। अतः यहीं से हम इस समीक्षा को प्रस्तुत कर रहे हैं।

२. सभ्यता और संस्कृति

हमने अपने उक्त ग्रन्थ (पृ० ५) में बताया है कि देश की भौतिक समृद्धि को सभ्यता और आध्यात्मिक समृद्धि को संस्कृति कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि आर्थिक समृद्धि से सभ्यता का और नैतिकता-प्रधान धार्मिक-आध्यात्मिक दृष्टि से संस्कृति का विकास होता है। समालोच्य ग्रन्थ (पृ० ६६) में मानव और प्रकृति के इन्द्रजाल को सभ्यता बताया गया है। वहीं (पृ० ६६) स्पष्ट किया गया है कि समाज की सूत्रात्मा धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि में अभिव्यक्त होती रहती है और सभ्यता

उसका शरीर है। यहाँ संस्कृति की तीसरी और चौथी परिभाषा के रूप में सभ्यता का समावेश किया गया है और पृ० ६८ पर सभ्यता को भोग की वस्तु बताया गया है। ऊपर की परिभाषाओं से यह वचन समरस है।

अन्यत्र (पृ० ३७, ९२, ९४) संस्कृति की दो कोटियां प्रदर्शित हैं। भौतिक कोटि को सभ्यता तथा अभौतिक (आध्यात्मिक) कोटि को संस्कृति नाम दिया गया है। आगे (पृ० १३७, २४६) संस्कृति और सभ्यता के भेद को औपाधिक माना गया है, किन्तु उसी स्थान पर (पृ० १३७) "अथवा संस्कृति समाज की अन्तश्चेतना है और सभ्यता उसकी बहिरभिव्यक्ति" कह कर सभ्यता और संस्कृति के भेद को वास्तविक माना है। वहीं (पृ० १५० और पृ० १५५) पाश्चात्य सभ्यता की समालोचना की गई है और पृ० १५८ पर डॉ० राधाकृष्णन् के सभ्यता से सम्बद्ध विचार प्रस्तुत किये गये हैं। एक स्थान पर (पृ० १९०) सभ्यता एवं संस्कृति के सामने आने वाली चुनौतियों की चर्चा कर संस्कृति के तीन रूपों की चर्चा की गई है। यहाँ ऐसा लगता है कि विद्वान् लेखक सभ्यता और संस्कृति में भेद नहीं करते। हमने अपने लेखन में इनके विभेदक तत्त्वों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की है। अपने इसी मन्तव्य की पुष्टि में हम समालोच्य पुस्तक के विभिन्न अंशों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस ग्रन्थ में सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति पर अधिक विस्तार से विचार हुआ है। यहाँ के अधिकांश लेखक संस्कृति का भौतिक और अभौतिक विभाजन कर भौतिक विभाग को ही सभ्यता मानने के पक्ष में हैं। दो पाश्चात्य मानव-शास्त्रियों को उद्धृत करते हुए यहाँ (पृ० ३७) बताया गया है कि इन्होंने संस्कृति की १६० से अधिक परिभाषाओं का विश्लेषण किया है। भारत में भी श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम श्लोक के शताधिक अर्थ किये गये हैं। इन समाजशास्त्रियों की दृष्टि में परम्परागत विचार तथा उनसे जुड़े मूल्य संस्कृति के सबसे मूल्यवान् तत्त्व हैं। इस दृष्टि से कौन असहमत हो सकता है। आगे मानव-संस्कृति की दो कोटियों—भौतिक तथा अभौतिक—की चर्चा की गई है। इससे हम एकमत नहीं हो सकते। भौतिक विभाग को सभ्यता और अभौतिक (आध्यात्मिक) विभाग को संस्कृति नाम देना ही उचित होगा। प्रस्तुत लेखक ने भी आगे (पृ० ४०) संस्कृति का संबन्ध मूलतः मनोरचना से माना है। अन्यत्र (पृ० ६५) भी संस्कृति को अभौतिक माना गया है।

इसी पृष्ठ पर विद्वान् लेखक ने ऐतरेय ब्राह्मण के—"**आत्मसंस्कृतिरेव शिल्पानि छन्दोमयं वा। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते**" (६.२७) इस वचन को उद्धृत करते हुए वैदिक वाङ्मय में संस्कृति शब्द के प्रयोग को उजागर किया है। हमने भी बताया है कि शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता (७.१४) में संस्कृति शब्द आया है। होशियारपुर के वैदिक शोध-संस्थान ने वैदिक पदानुक्रमकोश प्रकाशित किया है। उसमें

संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्र-ग्रन्थों के प्रत्येक पद का अलग-अलग चार खण्डों में स्थाननिर्देश किया गया है। उसकी सहायता से वैदिक वाङ्मय में अन्यत्र भी संस्कृति शब्द का प्रयोग हुआ है या नहीं, इसकी जानकारी मिल सकती है। शारीरिक असमर्थता के कारण हम इस कार्य को करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। अन्य शोधार्थियों को यह कार्य करना चाहिए।

प्रस्तुत लेखक ने ही कौषीतकि ब्राह्मण के शिल्प शब्द की व्याख्या करने वाले इस वचन को भी वहीं उद्धृत किया है— "**त्रिवृद् वै शिल्पानि—नृत्यं गीतं वादित्रमिति**" (२९.५)। हमने अपने अब तक के लेखन में कला में इनका अन्तर्भाव किया है और इनके लिए संस्कृति शब्द के प्रयोग को अनुचित माना है। इस वैदिक वचन के सामने हम नतमस्तक हैं। हमें ऐसा लगता है कि ६४ कलाओं में से कुछ का सभ्यता में और अन्य का संस्कृति में अन्तर्भाव करना होगा। यह अवधेय है कि उक्त वैदिक वचन में शिल्प शब्द प्रयुक्त है और उसकी परिधि में नृत्य, गीत और वादित्र को रखा गया है। आज भी सांस्कृतिक शिष्टमंडल में इन कलाओं में निष्णात महानुभावों का भी समावेश किया जाता है।

इसी विद्वान् ने संस्कृति से राष्ट्र को अभिन्न माना है। उनका कहना है कि अस्मिता-सम्पन्न, आत्मचेतन और स्वशासित संस्कृति की ही संज्ञा राष्ट्र है। अत: राष्ट्र देशमात्र नहीं है। संस्कृति-निरपेक्ष राष्ट्रीयता खोखली राष्ट्रीयता है (पृ० ६९)। स्पष्ट है कि यहाँ विद्वान् लेखक भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के पक्षपाती हैं। हमारा भी मत है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रसार से ही कोई भी राष्ट्र संघबद्ध रह सकता है। राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता में तभी भावात्मक एकता स्थापित हो सकती है।

प्रस्तुत लेखक की तथा कविवर दिनकर जैसे महानुभावों की दी गई हिन्दुत्व की परिभाषा से हम सहमत नहीं हैं और न आज की दुनिया उसको मानने को ही तैयार है। भारत का प्रत्येक निवासी भारतीय है, चाहे वह किसी भी धर्म अथवा मत-मतान्तर का अनुयायी हो। गंगा-जमुनी संस्कृति जैसी किसी संस्कृति का भारत में कोई अस्तित्व नहीं है। हमने अपने लेखन में भारतीय संस्कृति के परिनिष्ठित स्वरूप का परिचय दिया है। इस कार्य को आगे बढ़ाने का और देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के माध्यम से भावात्मक एकता को स्थापित करने का दृढ़ मानसिक संकल्प होना अपेक्षित है। भीरु मानसिकता यह कार्य नहीं कर सकती।

यहाँ एक स्थान पर आनन्दकुमार स्वामी के संस्कृति-संबन्धी विचारों को इस प्रकार उद्धृत किया गया है—"संस्कृति की व्याख्या में चित्त की एक प्रकार की समाहित अवस्था या अनासक्ति को जोड़ा जा सकता है। शरीर और मन की निश्चलता साधने की शक्ति भी इसमें शामिल है, क्योंकि चंचलता और अस्थिरता असंस्कृत होने

का लक्षण है'' (पृ० ७८)। अन्यत्र (पृ० ८७) किसी समुदाय के देश-काल नियन्त्रित जीने की रीति को संस्कृति बताया गया है। यहीं कहा गया है कि सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत विस्तृत एवं स्थिर आदतें, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ बन जाती हैं, जिनके प्रति स्थायी अनुरक्ति ही संस्कृति कहलाती है। यह मत उचित नहीं है, क्योंकि संस्कृति निरन्तर गतिशील है, उसमें स्थायित्व की कल्पना उचित नहीं मानी जा सकती।

आगे (पृ० ३१७) संस्कृति को परिभाषित करने के प्रयत्नों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि एक दृष्टिकोण मानव-वैज्ञानिकों का तथा समाजशास्त्रियों का है। ये लोग मनुष्य की उन समस्त कृतियों और उपलब्धियों को संस्कृति मानते हैं, जिन्हें उसने प्रकृति के भण्डार से जोड़ा है। दूसरा वर्ग दार्शनिकों और साहित्यकारों का है, जो मनुष्य की नैतिक, आध्यात्मिक और वैचारिक उपलब्धि को संस्कृति मानते हैं। हमारी दृष्टि में पहला वर्ग भौतिक सभ्यता को ही संस्कृति मानता है, जब कि संस्कृति का संबन्ध आध्यात्मिकता से है। सभ्यता और संस्कृति का घालमेल यहाँ अन्यत्र भी देखने को मिलता है। वस्तुतस्तु दूसरा दृष्टिकोण ही संस्कृति की सही परिभाषा दे पाता है।

इसी पृष्ठ पर (पृ० ३१७) बताया गया है कि बंगला भाषा में संस्कृति के लिए **कृष्टि** शब्द का प्रयोग होता है। इस मत की समालोचना हम अपने लेखन में कर चुके हैं। यहीं योगी अरविन्द की संस्कृति की परिभाषा इस तरह से दी गई है—''किसी जाति की संस्कृति उसकी जीवन-विषयक चेतना की अभिव्यक्ति होती है और वह चेतना अपने आपको तीन रूपों में प्रकट करती है'' (पृ० ३१७)। इस मन्तव्य से भी संस्कृति की आध्यात्मिकता ही स्थापित होती है। इसीलिए भौतिक संस्कृति (पृ० ११०) जैसे प्रयोग अर्थहीन ही माने जाने चाहिए। आध्यात्मिक संस्कृति (पृ० १७५) जैसे प्रयोग भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि संस्कृति तो आध्यात्मिक ही है। सभ्यता और संस्कृति को एक मान लेने से ही इस प्रकार के प्रयोग प्रचलन में आ गए हैं। सभ्यता और संस्कृति के नाम से जो तत्त्व आजकल व्याख्यात होता है, उसको सभ्यता नाम देना ही उचित है। यही स्थिति भौतिक संस्कृति की भी है। ऐसे लेखकों ने सभ्यता और संस्कृति के लक्षणों को आपस में मिला दिया है और इसीलिए वे संस्कृति की परिनिष्ठित परिभाषा देने में असमर्थ रहे हैं।

संस्कृति को समझने के लिए तीन उदाहरण दिये जाते हैं (पृ० १८-१९, ११०)। वे हैं—वृक्ष-प्रतिरूप, नदी-प्रतिरूप और कथरी-प्रतिरूप। इनमें से नदी का उदाहरण सर्वाधिक उपयुक्त है। नदी के प्रवाह में निरन्तरता के साथ परिवर्तनशीलता भी विद्यमान है। यही तो स्वरूप संस्कृति का भी है। उसमें भी निरन्तरता के साथ परिवर्तनशीलता देखने को मिलती है। भगवती गंगा हिमालय से उतर कर सागर पर्यन्त

निरन्तर प्रवाहित रहती है और मार्ग में नाना नदी-नद मिलकर उसके स्वरूप को प्रभावित करते रहते हैं। भारतीय संस्कृति भी वैदिक से लेकर सांख्य-योग, लोकायत, जैन, बौद्ध आदि मत-मतान्तरों की दृष्टि को निरन्तरता से अपने साथ रखकर उनके आवश्यक गुणों को भी स्वीकार करती रही है। इसीको दिखाने के लिए यहाँ एक स्थान पर (पृ० ३४) बताया गया है कि हमारी सांस्कृतिक नीति में अविच्छिन्नता, अर्थात् नैरन्तर्य और परिवर्तन के साथ सर्जनात्मक सन्तुलन बनाए रखना आवश्यक है। यहाँ इतना संशोधन अपेक्षित है कि भारतीय संस्कृति ने इस गुण को बहुत पहले ही स्वीकार कर लिया है।

भारतीय संस्कृति के विचारकों को यहाँ तीन कोटियों में बाँटा गया है—पाश्चात्य दृष्टि-प्रधान, रूढ़िवादी और परिवर्तनशील। इनका विवरण वहीं (११८) देखना चाहिए। स्पष्ट है कि तृतीय दृष्टि ही संस्कृति की सही व्याख्या कर सकती है। इसी पृष्ठ पर प्रस्तुत लेखक ने लिखा है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियाँ मिल नहीं सकतीं (पृ० ११८)। हम इस दृष्टि से सहमत नहीं है। "एक विश्व : एक संस्कृति" में हम इस पर पर्याप्त विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० ३३) में भी लिखा गया है कि प्राच्य और पाश्चात्य का यदि कोई मिलन-स्थल है, तो वह भारत है, जापान नहीं। भारतीय आध्यात्मिकता के साथ भौतिकवाद में समन्वय स्थापित कर यह कार्य किया जा सकता है। हमने एक स्थान पर लिखा है कि धर्मों में समन्वय का कार्य तन्त्रागमशास्त्र ने किया है, वही आध्यात्मिकता और नैतिकता में समन्वय करने में भी समर्थ है। भारतीय संस्कृति को ये गुण परम्परा से प्राप्त हुए हैं। यह इसलिए है कि इस संस्कृति में जड़ या स्थिर कोई एक शाश्वत तत्त्व नहीं है। आध्यात्मिकता के कारण इसमें जड़ता आ ही नहीं सकती। इसमें निरन्तर गतिशीलता रहने से यह स्थिर भी नहीं रह सकती। भारतीय संस्कृति में अनेक संस्कृतियों का मिलन हो चुका है और यह प्रक्रिया आज भी निरन्तर गतिशील हैं। संस्कृति के लिए ही नहीं, धर्मों पर भी यह विचार लागू हो सकता है। भारत में पंचायतन और षडायतन पूजा के माध्यम से धर्मों में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है।

सांस्कृतिक अध्ययन की तीन दिशाओं (पृ० २४-२५) और तीन प्रेरक-बिन्दुओं की यहाँ (१५९-१६०) चर्चा मिलती है। जागतिक समस्त संस्कृतियों को समझने में ये सहायता कर सकती हैं। वहीं (पृ० १६६) अशोक मेहता जी के सांस्कृतिक विचारों की समीक्षा करते हुए "**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना**" (१८.१९) भगवद्गीता के इस वचन के अनुसार उपार्जन को संस्कृति का प्रथम सोपान माना है।

संस्कृति की भूमिका को वहाँ एक जगह इस तरह स्पष्ट किया गया है—भारत और संसार के सभी राष्ट्र आज जिन चुनौतियों से जूझ रहे हैं, वे केवल आर्थिक और

राजनैतिक ही नहीं हैं। वहाँ बताया गया है कि इनके अतिरिक्त सांस्कृतिक गतिविधियों को भी अनिवार्यतः उनकी प्राणशक्ति के रूप में संमिलित करना चाहिए।

संस्कार शब्द की समीक्षा के साथ ही हम इस प्रकरण को पूरा करते हैं। एक स्थान पर (पृ० ७५) बताया गया है कि हमारे देश में संस्कार शब्द का लंबा इतिहास है, संस्कृति शब्द का नहीं। यह कथन उचित नहीं है। वैदिक वाङ्मय में संस्कृति शब्द उपलब्ध है, इस विषय को हम यहीं (पृ १०४) दिखा चुके हैं। इस पृष्ठभूमि में संस्कृति शब्द का प्रयोग अर्वाचीन है (पृ० १०७), यह उक्ति अपने आपमें समाप्त हो जाती है। मीमांसासूत्रों के शाबरभाष्य में और ब्रह्मसूत्रों के शांकरभाष्य में जो संस्कार शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसे हम पूरी तरह से संस्कृति के साथ जोड़ सकते हैं। यहाँ (पृ० १४५) प्रस्तुत पहली टिप्पणी को आप देखिये—"संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य" (मी० ३.१.३)। यह है दूसरी-तीसरी सदी के शाबरभाष्य का वचन। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य का कथन इस प्रकार है—"संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा" (१.१.४)। इन दोनों उद्धरणों में तीन बातें बताई गई हैं—(१) संस्कार से पदार्थ में योग्यता आती है, (२) गुणों का आधान होता है और (३) दोष दूर होते हैं। संस्कृति के माध्यम से भी तो इन्हीं गुणों का आधान होता है। एषणाओं और आवश्यकताओं की जितनी अधिक वृद्धि होगी, उसी अनुपात में संस्कृति का विकास होगा (पृ० १०७), इस उक्ति को हम सभ्यता के साथ जोड़ सकते हैं, संस्कृति से नहीं।

३. विश्वसंस्कृति

"एक विश्व : एक संस्कृति" में हमने विश्वसंस्कृति के स्वरूप के साथ उसको प्राप्त करने के कुछ उपायों को भी बताया था। समालोच्य ग्रन्थ (पृ० ९०) में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि मानव की पाशविक प्रवृत्ति की प्रतिद्वन्द्विता में लगता है कि विश्व-परिवार की सोचना अभी जल्दी है। हम इससे सहमत हैं, किन्तु व्यक्ति की विश्व-कल्याण के प्रति सोच तो उभरनी ही चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इस विषय पर विचार किया गया है। इस विषय को हम आगे देखेंगे। यहाँ (पृ० १८१) एक विश्व और विश्वभावना की चर्चा करते हुए कहा गया है कि एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातों में अपनी समानता और एकता महसूस करते हैं। एकता की यही भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है और एक विश्व की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातों से यह समानता उत्पन्न होती है, उन्हींके आधार पर लोकचित्त भी बनता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार यह लोकचित्त ही विश्वभावना का आधार प्रस्तुत कर सकता है।

आगे (पृ० २०६-२१०) चार तरंगों और मूल्यों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इनकी सहायता से विश्वसंस्कृति की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। लेख का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि यदि हम इसमें कुछ भी सफलता प्राप्त कर सकें, तो यह संसार को भारत का सबसे बड़ा योगदान होगा। इस प्रयास में प्रत्येक भारतीय की भूमिका है। यहाँ भी विश्वसंस्कृति की चर्चा करते हुए बताया गया है कि जीवन स्थिर और जड़ नहीं है। संस्कृति भी जड़ और स्थिर नहीं है। समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन में परिवर्तन होते रहते हैं। सांस्कृतिक जीवन भी साथ-साथ बदलता रहा है।...... राष्ट्रीयता की मांग है कि भारत में रहने वाले सभी लोगों के साथ समानता का व्यवहार हो तथा सदा एकरूपता लाने का प्रयास हो।..... भारतीय संस्कृति के समक्ष उपस्थित चुनौतियाँ समाप्त हो जायेंगी और विश्व संस्कृति के साथ हमारी एकरूपता भी रह जायेगी।

यहाँ अनेक स्थानों पर (पृ० २५१, ३३५, ३४०) एक विश्व की भी चर्चा आई है। विश्वसंस्कृति की अभी चर्चा हो चुकी है। पृ० २५२ में दर्शन, धर्म, सभ्यता और संस्कृति शब्दों की परिभाषा दी गई है। वह इस प्रकार है—''हम सबकी जिजीविषा में तालमेल बिठाने वाली दृष्टि ही **दर्शन** है। उस दर्शन के अनुरूप सृष्टि करने वाली आचारसंहिता **धर्म** है। धर्म का नीतिपरक व्यवहार **सभ्यता** है और अन्तःस्पर्शी सदाशयता **संस्कृति** है (पृ० २५२)। इन परिभाषाओं में आवश्यक संशोधन कर हमें विश्वसंस्कृति के निर्माण में आगे बढ़ना चाहिए। इस प्रसंग में इस वचन को हमें याद रखना है कि एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है और 'एक विश्व' की भावना की ओर अग्रसर होती है (पृ० ३३५)। साथ ही यह भी कि सारे संसार का मानव-समाज एक ही है। विश्व के राष्ट्रों के द्वारा इसकी घोषणा से मानवता के एक नये युग का आरम्भ हो गया है'' (पृ० ३४०)।

अभी ऊपर बताया गया है कि सारे संसार का मानव-समाज एक ही है। आगे बढ़कर हम देखते हैं कि अब वे सब साधन एकत्र हो रहे हैं, जो एक संसार, एक राज्य की भावना को साकार कर सकते हैं (पृ० ३५२)। एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति सकल विश्व को अपने व्यक्तित्व में समा लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लंघन करता है, जाति-धर्म-देश का भेदन कर मनुष्य मात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है (पृ० ३५३)। इन वचनों की तुलना हम तन्त्रागमशास्त्र में प्रतिपादित विश्वाहन्ता दृष्टि से कर सकते हैं। प्रस्तुत लेखक की ही यह दृष्टि भी हमारे लिए विशेष रूप से अवधेय है कि हमारे समाज में विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता भी रही है। इसी कारण आज हम स्त्रियों को या हरिजनों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नहीं

करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों को वोट के सामान्य अधिकार के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है (पृ० ३५३)। भारत की इस समन्वयात्मक, सर्वत्र सामंजस्य बैठाने वाली उदारतम सांस्कृतिक दृष्टि की सहायता से सारे संसार को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है (पृ० ३५४)। हमारी एक विश्व की कल्पना भी ''**वसुधैव कुटुम्बकम्**'' जैसे आदर्श-वाक्यों के इर्द-गिर्द घूमती है। विश्वसंस्कृति के निर्माण में जिन तत्त्वों की हमने उक्त ग्रन्थ में चर्चा की है, उनको भी यहाँ देखा जा सकता है। विश्वकुटुम्ब, विश्वबन्धुत्व, आत्मौपम्य जैसे शब्दों के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी यहाँ (पृ० ३५४-३५८) किया गया है।

आचार्य नरेन्द्रदेव इस दृष्टि के प्रवर्तन-यज्ञ के पुरोधा हैं। हम कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ के अनेक विद्वान् लेखकों और बहुत कुछ हमारे भी प्रेरणास्रोत आचार्य जी और उनके सहयोगी प्रो० मुकुटबिहारीलाल जी हैं।

४. अपसंस्कृति

ऊपर एक विश्व और एक विश्वसंस्कृति के विषय में चर्चा की गई है। इसमें सबसे बड़ी बाधा अपसंस्कृति है। इस अपसंस्कृति से बचने का उपाय यहाँ इस प्रकार बताया गया है—''इससे उबरने का तरीका है शिक्षण को मानव-स्वभाव के अनुकूल बनाना, ताँकि विशिष्ट (अप)संस्कृति क्षीण हो और मनुष्य के समीप ले जाने की बाधा दूर हो, मनुष्य को मनुष्य से अलग करने वाली संस्कृति का प्रभाव समाप्त हो'' (२५१)। आगे भी (पृ० २६४) अपसंस्कृति के निराकरण के लिए कुछ सुझाव दिये गये हैं। ये सुझाव अपसंस्कृति को बढ़ावा देने में, विवाद को बढ़ाने में ही सहायक हो सकेंगे, समाधान में नहीं। हमें इस बात का दुःख है कि आचार्य नरेन्द्रदेव और प्रो० मुकुटबिहारीलाल सरीखे भारतीय संस्कृति को सही रूप में समझने वाले विद्वानों की दृष्टि आगे पनप न सकी। यह पूरा ग्रन्थ भी, कुछ अपवादों को छोड़कर, अप्रबुद्ध पाठक को अपसंस्कृति की ओर ही ढकेल रहा है। अपसंस्कृतियों के परस्पर के संघर्ष के कारण ही यह देश आज अधःपतन की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा है। धार्मिक अन्धविश्वास इसका सबसे बड़ा कारक तत्त्व है।

हम सभी प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन करना चाहते हैं कि भारतीय संस्कृति वेद से लेकर महात्मा गांधी तक की पूरी भारतीय परम्परा का समादर करती है। इस भारतभूमि में रहने वाले प्रत्येक भारतीय में इनके प्रति समादरभाव आना ही चाहिए। ''**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**'' यह अथर्ववेद का आदर्श वाक्य है और विद्या की देवी सरस्वती को समस्त भारतीय धर्मों में मान्यता मिली है। ''वन्दे मातरम्'' और ''सरस्वती वन्दना'' का विरोध सेमेटिक धर्मों की संकीर्ण दृष्टि का परिचायक है और धर्मान्तरण के उद्योग को उसीमें शामिल किया जा सकता है। इन सबका समावेश

अपसंस्कृति में ही किया जायगा। आत्मसंस्कार का इनमें तनिक भी समावेश नहीं है। विद्या की देवी सरस्वती का नग्न चित्रण हमें कहाँ ले जा रहा है। धर्मान्तरण के रुकने पर ही और समस्त विश्व के विकृत किये गए धार्मिक स्थलों को उनके अनुयायियों को सौंप देने पर ही अपसंस्कृति का प्रभाव दूर हो सकता है और तभी एक विश्व और एक संस्कृति की कल्पना साकार हो सकती है।

५. हिन्दुत्व बनाम इस्लाम

हिन्दुत्व बनाम इस्लाम आजकल परस्पर-विरोधी बिन्दुओं पर टिका हुआ है। भारत में अपसंस्कृति के प्रसार का यह प्रमुख कारण है। इसी विषय को अब हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। एक विद्वान् लेखक ने 'बृहत्तर हिन्दुत्व' (पृ० ६९-७१) शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दुत्व को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। अपने आपमें यह सुन्दर विश्लेषण होते हुए भी आज की दुनिया इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करती। महाकवि दिनकर ने भी अपने संस्कृति-सम्बन्धी ग्रन्थ में इस प्रकार का प्रयत्न किया है। हमारे मत से एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में इस शब्द की कोई स्थिति नहीं थी। दिनकर जी ने हिन्दुत्व को परिभाषित करने वाले जिन वचनों को उद्धृत किया है, वे सब नवीन रचनाओं से उद्धृत हैं। अपसंस्कृति से छुट्टी पाने के लिए हमें समस्त भारती प्रजा के लिए भारतीय शब्द के प्रयोग को मान्यता देनी होगी। आइये, हम इस समस्या के समाधान के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से कुछ प्रयत्न करें।

यहाँ (पृ० १९१) हिन्दू-मुस्लिम समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— "मुस्लिम कट्टरता के कारण इस देश के समस्त नागरिकों के लिए एक-से कानून नहीं बन पा रहे हैं।...... अधिकांश हिन्दू हिन्दू धर्म को लेकर वैसे कट्टर नहीं रहे हैं, न हैं, जैसे कि हमारे मुस्लिम नागरिक"। मुस्लिमों के बारे में आगे (पृ० २४९) भी कहा गया है कि इनके यहाँ राष्ट्रीयता यदि कुछ है, तो वह उनके मजहब की जगह अथवा उससे ऊपर कदापि नहीं है। इस बात को आज कौन अस्वीकार कर सकता है? हिन्दू-मुस्लिम एकता से सम्बद्ध एक विस्तृत लेख यहाँ (पृ० २७२-२८२) छपा है, किन्तु इस समस्या का समाधान होना अभी बाकी है। हमारी समझ में इस लेख में दी गई सामग्री के आधार पर भारत की इस प्रमुख समस्या के समाधान का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिए। इसी लेख (पृ० २७९) में समस्या का समाधान न होने के प्रमुख कारणों की चर्चा की गई है कि मुसलमानों में प्रगतिशील नेतृत्व को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। इस बात से हम पूरी तरह से सहमत हैं। मुसलमानों की बात जाने दीजिए, अन्य समुदायों की भी यही स्थिति है। कट्टरता तथा ऐसे लोगों के आतंक से ग्रस्त होकर हम भले मुसलमानों की तरफ से मुँह मोड़ लें, यह प्रवृत्ति जब तक रहेगी,

एकता की कल्पना कोरी कल्पना ही रह जायगी। शाहबानो के मुकदमे में अनुचित हस्तक्षेप इस्लाम की कट्टरता को बढ़ावा देने वाला ही था। अपसंस्कृति के प्रसार को रोकने के लिए हमें इस तरह के कृत्यों से विरत होना पड़ेगा। तभी हम विश्वसंस्कृति के निर्माण में समर्थ हो सकेंगे।

मुसलमान भारत की बहुसंख्यक जनता से डरे हुए हैं, वे भयभीत हैं, इस तरह की बातें अनेक राजनीतिज्ञों के द्वारा तो कही ही जाती हैं, यहाँ (पृ० २९८) भी इसकी चर्चा है और इसके लिए बहुसंख्या को ही दोषी मानने के साथ महात्मा गांधी के प्रयत्नों की निष्फलता को भी दिखाया गया है। यह दूसरा बड़ा कारण है, जिसके रहते हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं हो पाती। मुसलमानों के भयग्रस्त होने की बात कहना हमारी बहुत बड़ी भूल है। मुसलमान भयग्रस्त नहीं हैं, वे तो इस दुनिया को इस्लाम धर्म में दीक्षित कर देने के लिए अपने-अपने तरीके से पूरी दृढ़ता से जुटे हुए हैं। इस सत्य का साक्षात्कार किये बिना एकता की कल्पना दिवा-स्वप्न मात्र होगा। एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति के बिना कोई भी देश जीवित नहीं रह सकता और आक्रमणशील दृष्टियों का जब तक शमन नहीं होता, बहुजातीय राष्ट्र की एकता नितान्त असंभव है।

यहाँ दिये गये सभी विचारों से हम सहमत नहीं है, किन्तु प्रस्तुत एकता को स्थापित करने के लिए इन विचारों और ऐसे ही अन्य सुझावों पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिए, जिससे कि सेमेटिक धर्मों की कट्टरता से भारतीय संस्कृति को बचाया जा सके। इस्लामिक दृष्टि के कारण ही धर्म-ग्रन्थों की समस्या खड़ी हुई है। भारतीय दृष्टि यह नहीं है, यहाँ तो सही बात को ही सदा से समर्थन मिला है और इसीके कारण भारतीय बहुसंख्यक समाज में सहिष्णुता आज भी अपना स्थान बनाये हुए है।

किसी भी धर्म-ग्रन्थ के किसी भी अंश को निकाल देने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टि हमें कोई लाभ भी नहीं पहुँचा सकती और न कोई धर्म वाला ऐसा करेगा ही। ऐसी मान्यताओं को भारतीय धर्मशास्त्रों के कलिवर्ज्य प्रकरण की दृष्टि के अनुसार स्थगित किया जा सकता है। इसीलिए इन विचारों से हम पूरी तरह सहमत हैं—"......सांस्कृतिक परम्पराओं और उसके जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करके यदि हम अनियन्त्रित रूप से अपनायेंगे, तो निश्चय ही हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहिचान समाप्त हो जायेगी" (पृ० ३२२)। इन मूल्यों पर हमें तब तक स्थिर रहना पड़ेगा, जब तक एक विश्व और एक संस्कृति के उपादानों को दृढ़ता के साथ लागू नहीं किया जाता।

६. धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलरिज्म)

सेक्युलरिज्म शब्द का धर्मनिरपेक्षता एक असांस्कृतिक अनुवाद है। सेक्युलरिज्म जब विधायी शब्द है, तो धर्मनिरपेक्षता निषेधपरक। संस्कृत भाषा के रहते एक शब्द

का दो शब्दों में अनुवाद करना भी हमारे बौद्धिक दिवालियापन को ही उजागर करता है। चार्वाक दर्शन की पृष्ठभूमि में हम 'सेक्युलर स्टेट' के लिए 'लोक-राज्य' शब्द को प्रयोग में ला सकते हैं। अपने संस्कृति संबन्धी लेखन में इस तरह के विचार हम अनेक स्थलों पर प्रकट कर चुके हैं। इस परिस्थिति में धर्मनिरपेक्षता, छद्म-धर्मनिरपेक्षता, पन्थ-निरपेक्षता, बिन-संप्रदाय जैसे शब्दों को सेक्युलरिज्म के पर्याय के रूप में प्रस्तुत करने का कोई अर्थ नहीं है। हम यह भी बता चुके हैं कि ये सभी अनुवाद भारतीय संस्कृति को हानि पहुँचाने वाले हैं। हिन्दी भाषा में आजकल अनेक अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग उसी रूप में होने लगा है। अच्छा हो कि हम गलत अनुवादों के स्थान पर 'सेक्युलर स्टेट' शब्द को ही प्रयोग में लावे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भी 'छद्म-आधुनिकीकरण' शीर्षक (पृ० १९-२०) से इस पर विचार किया गया है। भारतीय संस्कृति के सामने इसको पहली चुनौती के रूप में पेश किया गया है। वहाँ (पृ० २०) बताया गया है कि धर्म-निरपेक्षता आज के सन्दर्भ में धर्म-विमुखता बन गई है। इसी प्रसंग में धर्म के दुरुपयोग को दूसरी चुनौती बता कर कहा गया है कि हम धर्म को अल्पकालिक राजनीतिक लाभ का साधन बना रहे हैं। अविवेकी और निकट दृष्टि (अदूरदर्शी) राजनीति को तीसरी चुनौती माना गया है (पृ० २०)। अदूरदर्शी राजनीतिज्ञों और मार्क्सवाद की अभी आगे हम चर्चा करने जा रहे हैं। इन सबके कारण भारतीय संस्कृति में पर्याप्त अमंगलकारी तत्त्वों ने प्रवेश पा लिया है।

आगे इस विषय को और भी स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि हमारे 'सेक्युलराइज्ड' और 'प्रगतिवादी' बुद्धिजीवियों ने अपनी कारगुजारियों से इस आशंका को वास्तविकता में भी बदल डाला है (पृ० ९८)। पुनः वहीं कहा गया है कि उसने अब इस मूल्यमूढ़ 'सेक्युलराइजेशन' के पीछे निहित मनोवृत्ति के बारे में किसी मुगालते की गुजांइश नहीं छोड़ी है (पृ० १०४)। यहाँ दिये गये विचारों से हम सहमत है, किन्तु हमारा मत है कि शब्दों के गलत अनुवाद के कारण ऐसा हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा आदरपूर्वक स्वीकृत इन शब्दों की आधुनिक भारतीय राजनीतिज्ञों ने दुर्दशा कर दी है, विशेष कर मार्क्सवादियों ने इन शब्दों का दुरुपयोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया है। दैनिक जागरण के स्तम्भलेखक श्री बलवीर पुंज की यह उक्ति इस प्रसंग में पठनीय है—"मेकाले-मार्क्स के मानसपुत्रों ने पन्थनिरपेक्षता की जो भ्रामक व्याख्या समाज में फैला रखी है, उसके कारण राष्ट्रवाद की बात करने वाले को साम्प्रदायिक समझा जाता है" (दिनांक १६-९-२००३)।

७. आधुनिक राजनीतिज्ञ

हमें याद है कि महात्मा गांधी ने कांग्रेस पार्टी को विघटित कर देने की सलाह दी थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में बताया गया है कि चवालीस वर्ष पहले जिन राजनीतिज्ञों को

बैरकों में जाने की बात आचार्य जी ने कही थी, वे न तो कहीं गए और न ही उन्होंने इस देश के कलाकारों, रचनाकारों और विचारकों को काम करने लायक अवसर ही दिया। धीरे-धीरे अधिकांश साहित्यकार या तो मौन हो गए या उन्होंने समझौते कर लिए। बहुत से चारणधर्मी हो गए और कितने ही दिनोंदिन बढ़ती जाती सरकारी मशीनरी के पुर्जे बनकर रह गए (पृ० २३९-२४०)। ये ही राजनीतिज्ञ आज की राजनीति के कर्णधार हैं। एक अन्य लेखक ने धर्म की राजनीति की चर्चा करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि मुस्लिम संप्रदाय या अन्य अल्पसंख्यक सम्प्रदायों और मतावलंबियों में वैसी ही आक्रामकता का पैदा होना स्वाभाविक है (पृ० २६५-६६)। आगे के निबन्ध में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की चर्चा करते समय धर्म का ही राग अलापा गया है। सत्य सिर पर चढ़ कर बोलता है, इसका उदाहरण भी यहीं (पृ० २७७) देखने को मिलता है कि ई० १९८९ में आम चुनाव के चन्द दिन पहले उत्तरप्रदेश की कांग्रेस (ई०) सरकार द्वारा उर्दू को दूसरी राजभाषा बनाने की घोषणा इसी संकीर्ण सांप्रदायिक राजनीति की देन है (पृ० २७६-७७)। भारतीय धर्म और संस्कृति के समग्र स्वरूप से जब तक राजनीतिज्ञ परिचित नहीं होंगे, तब तक वे इस तरह की बातें करते रहेंगे। मार्क्सवाद और इस्लाम की कट्टरता के रहते राजनीतिज्ञों से किसी प्रकार की अपेक्षा करना अपने को ही धोखा देने के समान होगा।

आइये, अब हम देखें कि मार्क्सवाद के विषय में यहाँ क्या कहा गया है?

८. मार्क्सवाद और समाजवाद

मार्क्सवाद के संबन्ध में यहाँ बताया गया है कि इसके पास सामाजिक मूल्य-व्यवस्था, नैतिक दायित्व तथा व्यक्तिगत शील-विषयक प्रश्नों का कोई समाधान नहीं है (पृ० ४४)। हमारी समझ में इसीके कारण यह वाद विनाश की ओर बढ़ रहा है। भारतीय संस्कृति के आधार पर विश्वसंस्कृति का विस्तार करने के स्थान पर सर्वत्र झगड़ा-फसाद फैलाने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की और धर्म को जनता की अफीम (पृ० ५१) मानने वाले की कोई सत्ता नहीं रह जायेगी। इसके लिए आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के साथ नैतिकता-प्रधान धर्म के सही स्वरूप को दुनिया के सामने रखा जाय।

पहले (पृ० २१) एक निबन्ध में संस्कृति शब्द की १६० से भी अधिक परिभाषाओं की चर्चा की गई है। समाजवादी पाश्चात्य विद्वानों ने इससे भी आगे बढ़कर समाजवाद की ६०० परिभाषाओं की सूची बनाई है (पृ० १७०)। समाजवाद जब मार्क्सवाद का अनुयायी बन जाता है, तो वह भी भारतीय संस्कृति को विकृत करने में इससे पीछे नहीं रहता। ऐसे व्यक्तियों के अनुसार—"इस युग के राजनीतिक और आर्थिक संगठन इतने जटिल हो गए हैं कि गये जमाने के जीर्ण विचारों और

तरीकों के बल पर उनका संचालन और नियन्त्रण संभव नहीं'' (पृ० १७८)। आधुनिक भारतीय लेखक समग्र भारतीय संस्कृति को न सही, यदि आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारों को ही हृदयंगम कर पाते, तो इस तरह की हीनभावना से वे ग्रस्त न होते।

इसी पुस्तक में एक अन्य लेखक लिखते हैं—''इस तरह का विकसित सामाजिक मानवतावाद ही भारत में समाजवादी संस्कृति का आधार बन सकता है, ऐसा आचार्य जी का विश्वास था'' (पृ० २४१)। इसी पृष्ठ पर ऊपर—''संयुक्त संस्कृति की कांग्रेसी अवधारणा आधुनिक भारत को प्रेरित करने में आगे चलकर असफल होने वाली थी ही'' (पृ० २४१) कहा गया है। इसके लिए किसी को दोषी नहीं बताया जा सकता, क्योंकि संस्कृति के स्वरूप की सही अवधारणा न हो पाने से और कुछ राजनीतिज्ञों पर अपसंस्कृति का गहरा प्रभाव होने के कारण यह कार्य नहीं हो पाया। हमने एक जगह लिखा है कि साम्प्रदायिक सौहार्द की स्थापना के सारे प्रयत्न ब्रिटिश हुकूमत के मानसपुत्रों के कारण ही सफल नहीं हो पाये।

आचार्य जी ने एक स्थान पर लिखा है कि हम सभी भारतीय धर्मों को सनातन धर्म के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। .... इसे मैं भारतीय धर्म कहना पसन्द करूँगा (पृ० ३४४)। इस प्रसंग को हम काका कालेलकर के मन्तव्य को उद्धृत करते हुए समर्थन दे चुके हैं (एक विश्व०, पृ० १७५), किन्तु यदि हम भारतीय धर्म के स्थान पर उसको भारतीय संस्कृति से जोड़ें, तो यह आज के युग के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। स्थान-स्थान पर हम इस संबन्ध में अपने विचार, विशेष कर 'हिन्दू धर्म' शब्द के प्रसंग में, प्रकट कर चुके हैं। यह भी समझ लेने की बात है कि हम भौतिक विज्ञान को अध्यात्म से ऊपर मानकर विश्वकुटुम्ब की भावना को साकार नहीं कर सकते। आचार्य जी ने इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है (पृ० ३५५)।

९. उपनिषद् और आगमशास्त्र

प्रस्तुत ग्रन्थ में उपनिषदों की तो कुछ विद्वानों ने यत्र-तत्र चर्चा की भी है, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र की उन्होंने पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। तन्त्रशास्त्र को आजकल जादू-टोना और मारण-मोहन जैसे विषयों तक सीमित कर दिया गया है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि भारत में सामाजिक दृष्टि के परिवर्तन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ''तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन'' शीर्षक बृहद् ग्रन्थ में हमने इस शास्त्र की वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन और स्मार्त शाखाओं का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से परिचय देते हुए सप्रमाण बताया है कि भारत के प्रत्येक राज्य की स्थानीय भाषाओं के माध्यम से रचित सन्तों और भक्तों की रचनाओं पर इस शास्त्र का कितना गहरा प्रभाव था। दक्षिण के आलवार-अलियार (वैष्णव-शैव) भक्तों और उत्तर के कबीर,

नानकदेव जैसे नूतन दृष्टि को उजागर करने वाले महनीय सन्तों की वाणी में इसको स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल इसकी एक झलक देखी जा सकती है।

स्त्री-पुरुष के संबन्धों तथा समानता की चर्चा करते हुए यहाँ बताया गया है कि हमारे धर्म-ग्रन्थों में तथा हमारे सन्त-साधकों की वाणियों में निरन्तर कहा गया है कि आध्यात्मिक साधन के मार्ग में बढ़ने तथा ऊँचाइयों तक चढ़ने के लिए प्रेम, सत्य, अहिंसा, सदाचरण जैसे मानवीय मूल्यों को पहले साधना होगा (पृ० ११५)। यहाँ दिये गये धर्म-ग्रन्थ शब्द में हम उपनिषदों का और आगम-तन्त्रशास्त्र का भी समावेश कर सकते हैं। निबन्ध का उपसंहार करते हुए लेखक ने लिखा है—"इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की मौलिक संस्कृति के धर्मभाव को हमारे भक्तियुग के सन्तों ने अपनी आध्यात्मिक साधना की भूमिका के साथ स्वीकार किया था, तो आधुनिक युग में गांधी जैसे व्यक्तित्व ने राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक जीवन की नई रचना के लिए इसी धर्मभाव का आधार व्याख्यायित किया है और इस दृष्टि को हम आचार्य जी के समाजवादी चिन्तन में भी पाते हैं" (पृ० ११७)। इस तरह के विचारों की पृष्ठभूमि में हमें प्रथमत: उपनिषदों और आगम-तन्त्रशास्त्र को रखना होगा।

यहाँ संकलित एक निबन्ध में सांख्यदर्शन की विस्तार से चर्चा की गई है (पृ० १२१-१२९)। इस प्रसंग से हमें यह याद रखना है कि ईसा से आठवीं शताब्दी पहले सांख्यदर्शन और जैन धर्म ने वैदिक दृष्टि की सटीक समालोचना की थी। इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए। इसी निबन्ध में महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं (पृ० १३०-१३१)। इन विचारों से हम पूरी तरह से सहमत हैं। इसीके कारण भारतीय संस्कृति पर अपसंस्कृतियों का प्रभाव अतितीव्र गति से बढ़ा है। इस कुप्रभाव को रोकने के लिए सुदृढ़, निर्भीक प्रयत्नों की अपेक्षा है।

प्रतिवादी पन्थों का उदय (पृ० १४५-१४६) शीर्षक से तान्त्रिक साधनों की समालोचना करते हुए यहाँ कहा गया है—"अद्वैतदर्शन की स्थापना के बाद शैव-शाक्त परक और हठयौगिक क्लिष्ट साधनों का बहुत-कुछ समाहार पूरे देश में उमड़ी भक्तिवाद की लहर में हो गया और कुछ बहिष्कृत हो गई" (पृ० १४६)। यहाँ की कुछ बातें तान्त्रिक रहस्यवाद पर लागू होती हैं, पूरे आगम-तन्त्रशास्त्र पर नहीं। अद्वैतदर्शन की स्थापना के साथ नहीं, बौद्ध काल के पूर्व की रचना छान्दोग्य उपनिषद् के काल में ही वैष्णव और शैव आगमों की परम्परा स्थापित हो चुकी थी। "शंकराचार्य के अद्वैतदर्शन के द्वारा स्थापित धार्मिक और शास्त्रीय नवचिन्तन विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद आदि छः धाराओं में थोड़े भेद के साथ पूरे

भारतवर्ष में फैला'' (पृ० १४६)। यह उक्ति तो ठीक है, किन्तु सभी वैष्णव आचार्यों ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध माना है, इसको नहीं भूलना चाहिए। जिन छः धाराओं के विकास की बात यहाँ कही गई है, उनका आधार प्राचीनतम उपनिषदों और पांचरात्र-पाशुपत मतों के आगमों में निहित था। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन को भी आज भुला दिया गया है। सूफीवाद का अध्ययन भी आज इस दर्शन को नकार कर शांकर अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि में किया जाता है। भक्तिवाद का अध्ययन भी इन उपनिषदों और प्राचीन आगमों के अध्ययन के बिना अधूरा ही रहेगा, भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में पश्चिमी विचारधाराओं के अनुचित आक्षेपों का सामना भी हम नहीं कर सकेंगे, विश्व संस्कृति और सुभावित चित्त की स्थापना भी तभी हो सकेगी। सुभावित चित्त की चर्चा करते समय उपनिषदों और आगम-तन्त्रशास्त्र के अवदान को भी दिखाना चाहिए था (पृ० ३१०-३२२)। प्रस्तुत लेखक का यहाँ पूर्व (पृ. ११२) प्रदर्शित यह निष्कर्ष—''विज्ञान और प्राविधिकी में अन्तर्निहित मूल्यों को उनका उपयोग करने वाले समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं और उसके जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करके यदि हम अनियन्त्रित रूप से अपनायेंगे, तो निश्चय ही हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहचान समाप्त हो जायेगी'' (पृ० ३२२)। इस कथन से हम पूरी तरह से सहमत हैं।

१०. व्यष्टि एवं समष्टि

प्रस्तुत ग्रन्थ में एक ही स्थान पर (पृ० ३३८) ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अन्यत्र सभी जगह (पृ० XV, ११९-१२०, ३३५, ३४८, ३५८) व्यष्टि के स्थान पर व्यक्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो उचित नहीं है। भारतीय दर्शन के ये शब्द हैं। इनके स्थान पर आजकल साधारणतया व्यक्ति और समाज शब्दों का प्रचलन हो गया है। जैसा कि अभी बताया गया, प्रस्तुत पुस्तक के विषय-क्रम में एक निबन्ध का शीर्षक ही 'समष्टि और व्यक्ति' (पृ० ३४८) है। ग्रन्थ (पृ० ११९-१२०) में सोसाइटी, कल्चर और इंडिविजुअल शब्दों की चर्चा करते समय इनके अनुवाद के रूप में समाज, संस्कृति और व्यक्ति शब्दों को दिया गया है। हमारी समझ में जब इस ग्रन्थ में समष्टि शब्द को सर्वत्र स्वीकार किया गया है, जो कि सोसाइटी का पर्याय है, तब इंडिविजुल शब्द के अनुवाद के रूप में व्यक्ति शब्द के स्थान पर **व्यष्टि** शब्द को ही ग्रहण करना चाहिए था। तभी विचारों में दार्शनिक गंभीरता आ पाती। लगता है कि मार्क्सवाद के प्रभाव से यह अनुवाद किया गया। इस स्थिति में इस ग्रन्थ में समष्टि शब्द के स्थान पर समाज शब्द को ही प्रयोग में लाना चाहिए था। तब इन दोनों शब्दों का आधुनिकता से संबन्ध जुड़ जाता। संस्कृति शब्द की चर्चा के प्रसंग में वहाँ लिखा गया है कि महाभारत ग्रन्थ के एक लाख श्लोकों में कहीं भी संस्कृति और व्यक्ति शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है।

भारतीय दर्शन में व्यक्ति के स्थान पर 'व्यष्टि' शब्द प्रयुक्त होता रहा है, यह हम अभी बता चुके हैं। रही बात 'संस्कृति' शब्द की, महाभारत से भी पहले के वैदिक वाङ्मय में यह शब्द उपलब्ध है, इसी ग्रन्थ (पृ० ६५) के प्रमाण से हम इसी समीक्षा (पृ० १०४) में बता चुके हैं। व्यक्ति और समष्टि के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० ३३५) में व्यक्तिगत चित्त और लोकचित्त शब्दों का प्रयोग हुआ है और आगे (पृ० ३३८) स्पष्ट रूप से व्यष्टि और समष्टि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यह भी सही है कि यहीं (पृ० ३४८-३५३) एक पूरे निबन्ध का शीर्षक 'समष्टि और व्यक्ति' दिया गया है। हमारी समझ में इस निबन्ध का शीर्षक 'व्यष्टि और समष्टि' ही होना चाहिए। परम्परा में किसी प्रकार की विकृति के न आने पर भी उसे बदल देना उचित नहीं है।

११. आश्रय-परावृत्ति

बौद्ध वाङ्मय की महायान शाखा में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ (पृ० ६०-६१, ६४, ३४२) में भी हुआ है। यहाँ (पृ० ६०-६१, ६४) विज्ञानवादी (योगाचार) बौद्धदर्शन की पृष्ठभूमि में इस शब्द की प्रवृत्ति बताई गई है और आगे (पृ० ३४२) आश्रय-परावृत्ति को ही आधुनिक सत्साहित्य और अभिनव संस्कृति के निर्माण के लिए तथा भारत का कायाकल्प करने के लिए आवश्यक तत्त्व बताया गया है, जो उचित ही है।

समस्या तब उठती है, जब भारतीय विद्वानों के एक वर्ग द्वारा ही यह शब्द विकृत कर दिया जाता है। इस शब्द का वज्रयान से कोई सम्बन्ध नहीं है, तो भी अपने मत को अनुचित आधार पर खड़ा करने की प्रवृत्ति ने इस शब्द का रहस्यवादी अर्थ किया है। कुछ वर्ष पहले तिब्बती संस्थान, सारनाथ में सम्पन्न हुई सप्तदिवसीय कार्यशाला में इस शब्द का प्रयोग इसी प्रसंग में किया गया था। इस कार्यशाला का विवरण वहीं से "भारतीय तन्त्रशास्त्र" शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। इसके पक्ष-विपक्ष में हुए विद्वानों के विचार-विनिमय को वहाँ (पृ० २२०-२२७) देखा जा सकता है। उसके निष्कर्ष को हम बहुत संक्षेप में इस प्रकार दे सकते हैं—

हम किसी भी रूप में इस शब्द का संबन्ध बौद्ध तन्त्राचार्यों के साथ नहीं जोड़ सकते। "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ० २१२) में हम बता चुके हैं कि कौल-स्वभाव के तन्त्रों की प्रवृत्ति पाँचवीं-छठी शताब्दी के बाद ही मानी जा सकती है। इस पृष्ठभूमि में हम नागार्जुन, आर्यदेव आदि की तान्त्रिक रचनाओं का ही समावेश यहाँ कर सकते हैं। योगाचार (विज्ञानवादी) बौद्ध आचार्य द्वारा प्रयुक्त इस शब्द की व्याख्या तो योगशास्त्रपरक ही की जा सकती है। पातंजल योगशास्त्र और अन्यत्र भी योगांगों में प्रत्याहार परिगणित है। इसका अभिप्राय इन्द्रियों को बाह्य विषयों से विमुख करना है।

आश्रय-परावृत्ति शब्द का भी यही अभिप्राय है कि हम सभी बाह्य इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से विमुख कर अपने भीतर झाँकने का प्रयत्न करें।

१२. उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ में ही आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने यह कहा है—"हमारे देश में दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नहीं करते" (पृ० ३३६)। हमने कुछ वर्ष पहले प्रकाशित "निगमागम संस्कृति" शीर्षक ग्रन्थ (पृ० २५०-२५६) में धर्म और संस्कृति के अन्तर को पहिचानने के लिए कतिपय बिन्दुओं की विस्तार से चर्चा की थी। गम्भीरता से यदि हम विचार करें, तो भारत में इस दृष्टि का विकास ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी तक अवश्य हो चुका था, जबकि आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि का और जैन धर्म के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का प्रादुर्भाव हो चुका था। महाभारत के शान्तिपर्व के अन्त में स्थित नारायणीयोपाख्यान में कृतान्तपंचक के रूप में सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव), पाशुपत (शैव) और वेदारण्यक (उपनिषद्) को मान्यता मिल चुकी थी। आगे चल कर इतिहास-पुराणों और स्मृति-ग्रन्थों में इनके प्रामाण्य की चर्चा देखी जा सकती है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों में कहीं श्रुति और अन्यत्र स्मृति-ग्रन्थों के समकक्ष इनको माना गया है। पुष्पदन्त के महिम्नस्तव में ही नहीं, वीरशैव धर्म-दर्शन के महनीय ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि में भी इनका अप्रतिहत प्रामाण्य स्वीकृत है। स्पष्ट है कि सांस्कृतिक दृष्टि का विकास हुए बिना उक्त पाँच सिद्धान्तों में समन्वय का आधार ही नहीं बन सकता। इन पाँच सिद्धान्तों के अतिरिक्त लोकायत (चार्वाक) दर्शन का विकास भी यहाँ बहुत पहले हो चुका था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इनका उल्लेख मिलता है।

भारत में तो संस्कृति में ही नहीं, धर्मों में भी परस्पर समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न पंचायतन एवं षडायतन पूजा के माध्यम से आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले अवश्य हो चुका था। पाँचवीं-छठी शताब्दी की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इनकी चर्चा आती है। लगभग उसी समय के महान् ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने भी इन धर्मों में परस्पर सामंजस्य बढ़ाने का प्रयत्न किया था। वे कहते हैं कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी को अपने इष्टदेव की आराधना अपने-अपने धार्मिक रीति-रिवाजों के अनुसार ही करनी चाहिए। आज की भारतीय संस्कृति-गंगा में वेद, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त, पुराण, सन्त, इस्लाम और खीष्ट धर्मों की उदात्त जलधाराएँ मिलकर बह रही हैं। इस पृष्ठभूमि में **खीष्ट और इस्लाम धर्म भी पंचायतन-षडायतन पद्धति से वराहमिहिर की उक्ति के अनुसार अपनी-अपनी प्रधान स्थिति को बनाये रखकर उक्त सभी धर्मों के बीच अपना सामंजस्य बैठा सकते हैं।**

सुधारवादी आन्दोलन ने देश को एक हजार वर्ष की चिरतन्द्रा से जगाने का स्तुत्य प्रयास किया है, किन्तु उसमें एक कमी भी रह गई है कि ब्रह्मसूत्र और आचार्य शंकर की तर्कपाद की दृष्टि का अनुसरण करते हुए उन्होंने वेद और शांकर वेदान्त के अतिरिक्त सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पांचरात्र-पाशुपत मतों की और उनके साहित्य की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों के कलिवर्ज्य प्रकरण के आधार पर अनेक कालातीत मान्यताएँ स्थगित हो गई थीं, वे पुन: जीवित हो उठी हैं। भारतीय संस्कृति में धार्मिक ग्रन्थों में बिना कोई छेड़-छाड़ किए कालातीत तत्त्वों को स्थगित करने की परम्परा रही है। इसी पद्धति से एक समग्र भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिए **अन्य धर्म-ग्रन्थों की भी समाज में परस्पर वैमनस्य फैलाने वाले कालातीत तत्त्वों की मान्यता को स्थगित किया जा सकता है। आतंकवाद और धर्मान्तरण को समाप्त करने के लिए धर्म को मानवतावादी बनाया जाय, क्या यह जरूरी नहीं है?**

आजकल यह फैशन चल पड़ा है कि आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर कब्जा किया और अपनी धर्म-संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया। इसी उदाहरण से ख्रीष्ट और इस्लाम धर्म के अनुयायियों को भी इस देश में अपने-अपने धर्मों के प्रसार का अधिकार है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत का जो कुछ अच्छा-बुरा है, उसे पूरी तरह मिटा दें। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही बताया गया है कि ऋग्वेद के आर्यों के अपना मूल स्थान छोड़ने और भारत पर आक्रमण करने का कहीं कोई उल्लेख नहीं है (पृ० १०५)। सिन्धु घाटी में उपलब्ध लिपि को अभी पढ़ा नहीं जा सका है। उसके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। कोरी कल्पना के आधार पर अपने धार्मिक संकीर्ण विचारों को इस देश पर थोपने का प्रयत्न कभी भी उचित नहीं माना जा सकता। पूरी मानव-जाति का हित किसमें है? इसी आधार पर भारतीय संस्कृति का भविष्य निर्भर रहेगा। भारत के प्रसिद्ध अभिनेता जनाब शाहरुख खान ने अभी घोषणा की है कि मैं सर्वप्रथम भारतीय हूँ, इसके बाद ही अन्य कुछ। इसी दृष्टि का विकास पूरे भारतीय समाज में होना चाहिए। धर्म के स्थान पर संस्कृति को प्रधानता देकर ही ऐसा किया जा सकता है। भारत के पूरे अतीत से जुड़ने पर ही ऐसा हो सकता है। अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए भी यह सब किया जा सकता है। अपने देश के अतीत से जुड़ने को जड़ता मानने वालों की मानसिकता के आधार की खोज हमें करनी होगी। इसके लिए हमें धर्म, धार्मिकता (साम्प्रदायिकता) और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्दों की सही व्याख्या समाज के सामने प्रस्तुत करनी पड़ेगी। क्या हम भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों को विकृत करने वालों की मानसिकता से समाज को सावधान कर सकेंगे? एक अखण्ड भारतीय सामाजिक दृष्टि के निर्माण में समर्थ हो सकेंगे?

हमारी दृष्टि में इसके लिए दुनिया की सबसे पुरानी भाषा संस्कृत का ज्ञान आवश्यक होगा। विदेश में नियुक्त एक भारतीय राजदूत को भगवद्गीता की कोई जानकारी नहीं थी। बाइबिल के बाद सर्वाधिक भाषाओं में अनुवाद बिना किसी धार्मिक जुनून के इसीका हुआ है। भगवद्गीता और धम्मपद (पालि भाषा का ग्रन्थ) नैतिकता के प्रसार में सर्वाधिक उपयोगी हैं। हमारी समझ में भारतीय राजदूतों के साथ सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशों और मानवाधिकार आयोग जैसे आयोगों के सदस्यों के लिए इसका ज्ञान अपेक्षित होना चाहिए। इसके अभाव में हम अपसंस्कृतियों के प्रभाव को रोकने में न तो कभी सफल हो सकेंगे और न हम हीनभावना से मुक्ति ही पा सकेंगे।

आज के प्रगतिशील! विचारक भगवाकरण के नाम पर भारत की एक हजार वर्ष पहले की सारी मान्यताओं को झुटला देना चाहते हैं। उन सबका लक्ष्य एक ही है कि भारत की सारी प्राचीन मान्यताओं को तिलांजलि दे दी जाय, जिससे भारत पर अपसंस्कृतियों का कब्जा मुकम्मल हो सके। भारतीय संस्कृति पर यह आक्रमण गले में टाई बाँधने वाले बाबुओं, साहबों और अर्थ-लोलुप व्यापारियों के माध्यम से होगा। होगा क्या, हो रहा है। यह आक्रमण उन विचारकों की तरफ से भी हो रहा है, जो उदात्त भारतीय विचारों को दबा देने में ही अपनी सारी कुशलता खर्च करते हैं।

हिन्दू शब्द का प्रयोग एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में कहीं भी देखने को नहीं मिलता, किन्तु हमारे ऊपर यह शब्द जबरदस्ती लाद दिया गया है। भारत के निवासियों के लिए हिन्दू शब्द के प्रयोग के जितने भी प्राचीन उदाहरण मिलते हैं, वे सब बाह्य साक्ष्यों पर आधारित हैं, अर्थात् उनका प्रयोग बाहरी लेखकों ने किया है। यह हमें देखना होगा कि इस शब्द को भारतीय लेखकों ने और जनता ने भी कब मान्य किया। यों भारतीय प्रजा के लिए इस शब्द के प्रयोग को स्वामी विवेकानन्द, डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे चिन्तक उचित नहीं मानते। इस विवाद में हम अधिक उलझना नहीं चाहते, किन्तु एक न एक दिन इस आरोपित शब्द से हमें अवश्य छुटकारा पाना होगा। भारतीय संस्कृति का तकाजा है कि धर्म, संप्रदाय, जाति आदि के भेदों से ऊपर उठकर यहाँ का प्रत्येक निवासी अपने को भारतीय माने। तभी धर्मों और संस्कृतियों के परस्पर संगम की संभावना बन सकती है।

●●●

भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण

कालविषयक भारतीय दृष्टि

ऋग्वेद भारत का ही नहीं, आज की दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यही नहीं, प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों को अनादि ही मानता है। महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त कपिल और बुद्ध का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि सभी आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। वेदों की यह विशेषता है कि इनको अपौरुषेय माना जाता है और अन्य शास्त्रों के कोई न कोई प्रवक्ता हैं। यों महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में अपान्तरतमा को वेदों का प्रवक्ता बताया गया है। सभी वेदों की सर्वानुक्रमणियाँ प्राप्त हैं। इनमें प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का वर्णन किया गया है। इनके अनुसार हम वेदों के प्रत्येक मन्त्र के द्रष्टा ऋषि को ही प्रवक्ता मान सकते हैं। इसी न्याय से प्रत्येक धार्मिक ग्रन्थ की भी स्थिति मानी जा सकती है। आगम-ग्रन्थों में बताया गया है कि सभी तरह के आगम (ज्ञानराशि = शास्त्र = धर्मग्रन्थ) दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा से हम तक पहुँचते हैं, अर्थात् ज्ञानराशि का प्रसार पहले देवताओं में, बाद में सिद्धों में और अन्ततः मानवों तक पहुँचता है। भारतीय वाङ्मय के प्रसार की यही है भारतीय दृष्टि। काल का विचार यहाँ अपनी पद्धति से हुआ है।

संकल्प-वाक्य में हम "अष्टाविंशतितमे कलियुगे" की चर्चा करते हैं। स्मृतियों और पुराणों के अनुसार आज-कल २८वाँ कलियुग चल रहा है। प्रत्येक द्वापरयुग के अन्त और कलियुग के प्रारम्भ में पाशुपत योगाचार्यों और वेदव्यासों का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनुसार श्वेत से लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपत योगाचार्यों और २८ वेदव्यासों की नामावली विभिन्न पुराणों में मिलती है। पाशुपत योगाचार्य पाशुपत मत की प्रतिष्ठा करते हैं और वेदव्यास एक ही वेद को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम के चार भागों में विभक्त करते हैं। भारतीय वाङ्मय में प्रसिद्ध एक श्लोक के अनुसार कृत (सत्य) युग में वैदिक, त्रेता में स्मार्त, द्वापर में पौराणिक और कलियुग में तान्त्रिक आचारों का पालन किया जाता है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिगोचरः।
द्वापरे च पुराणोक्तः कलौ तु तान्त्रिकी श्रुतिः॥

वैदिक और तान्त्रिक दो तरह की श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें वैदिक श्रुति के अधिकारी तीन ही वर्ण माने गए हैं, जबकि तान्त्रिक श्रुति में सबका समान रूप से अधिकार मान्य है। कृतान्तपंचक, अर्थात् सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव), पाशुपत (शैव) और वेदारण्यक नाम के पाँच सिद्धान्तों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध और लोकायत

मत के प्रभाव की भी इस प्रसंग में हम चर्चा कर सकते हैं। नारायणीयोपाख्यान में ही बताया गया है कि सांख्य के प्रवक्ता कपिल मुनि, योग के हिरण्यगर्भ, पांचरात्र मत के स्वयं भगवान् नारायण, पाशुपत मत के श्रीकण्ठ और वेदारण्यक के अपान्तरतमा हैं।

तन्त्रशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र में दी गई क्षण, लव आदि से लेकर कल्प पर्यन्त काल की गणना का संक्षिप्त परिचय मनुस्मृति के पहले अध्याय में दिया गया है। तदनुसार आजकल सातवाँ वाराह कल्प चल रहा है। एक कल्प में एक सहस्त्र दिव्य युग होते हैं और यह १४ मन्वन्तरों में विभक्त हैं। एक मन्वन्तर का काल ७१ दिव्य युग का माना गया है। पुराणों में १४ कल्पों और प्रत्येक कल्प में १४ मन्वन्तरों का विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय कालगणना का यही आधार है। तदनुसार सातवें श्वेतवाराह कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर का २८वाँ कलियुग आजकल चल रहा है। २८ योगाचार्यों और २८ वेदव्यासों की पुराणों में दी गई नामावली प्रस्तुत श्वेतवाराह कल्प की है। इस कालगणना के अनुसार कल्प के आदि में ही वेदों का प्राकट्य हो जाता है और प्रत्येक मन्वन्तर के अधिपतियों को इनकी रक्षा करनी पड़ती है।

कालविषयक पाश्चात्य दृष्टि

वेदों को गड़रियों के गीत मानने वाली पाश्चात्य दृष्टि इस काल को मान्यता न दे, यह स्वाभाविक है, किन्तु वेदों की तरफ से पूरी दुनियाँ का ध्यान हटाने का पादरियों के साथ मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वान् का प्रयत्न भी सफल न हो सका और भारत में स्वामी दयानन्द के साथ ही यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वानों ने चारों वेदों और छः वेदांगों की विभिन्न शाखाओं के ऊपर आश्चर्यजनक कार्य कर विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय के रूप में इसकी प्रतिष्ठा कर दी। कालविषयक पाश्चात्य दृष्टि से इस पर विचार करने से पहले हम इस निगमागमाधारित प्राचीन वाङ्मय की विशालता पर प्रकाश डाल देना चाहते हैं।

भारत का प्राचीन वाङ्मय

वैदिक साहित्य

ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी में विद्यमान व्याकरणशास्त्र के महाभाष्यकार पतंजलि ने अपने ग्रन्थ के प्रथम आह्निक में यजुर्वेद की १०१, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि पतंजलि के काल में चारों वेदों की ११३१ शाखाएँ मान्य थीं। प्रसंगवश यह कह देना भी अनुचित नहीं होगा कि ये ही पतंजलि भारतीय परम्परा के अनुसार पातंजल योगसूत्रों और आयुर्वेद की चरकसंहिता के भी रचयिता थे। उनके विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् योगशास्त्र की रचना कर जिसने चित्त के मैल को, व्याकरण महाभाष्य की रचना कर वाणी के मैल को और वैद्यकशास्त्र की रचना कर शारीरिक मलों को दूर करने का प्रयत्न किया, उस पतंजलि मुनि को मैं प्रणाम करता हूँ।

वेदों के अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द नामक छः वेदांगों की भी तब तक रचना हो चुकी थी। आज अनेक **शिक्षा**-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें प्रधान रूप से लौकिक और वैदिक उच्चारण की पद्धति को बताया गया है। नारदीय शिक्षा में सामवेद की गानपद्धति निर्दिष्ट है। इसे हम भारतीय संगीतशास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ मान सकते हैं। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय संगीतशास्त्र का महनीय ग्रन्थ है। **कल्पों** के श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र नामक तीन प्रमुख विभाग हैं। इनमें से श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों के विधि-विधानों का, गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के लिए उपयोगी संस्कारों का और धर्मसूत्रों में धार्मिक क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है। धर्मसूत्रों की परम्परा स्मृति-ग्रन्थों के माध्यम से आगे बढ़ी। शुल्बसूत्रों को हम रेखागणित के आद्य ग्रन्थ मान सकते हैं, जहाँ यज्ञीय कुण्डों के निर्माण की विधि प्रदर्शित है। **व्याकरण** के रूप में आज भी पाणिनि की अष्टाध्यायी को सर्वोपरि मान्यता मिली हुई है। आज के पाश्चात्य विद्वान् भी इसको एक अद्‌भुत रचना मानते हैं। इसमें अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम उद्धृत हैं। इसका काल ईसा-पूर्व छठी शताब्दी माना गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में आजकल की प्रसिद्ध चार वैदिक संहिताओं के व्याकरण सम्बन्धी नियमों का निरूपण किया गया है और पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इनको संकलित किया गया है। **ज्यौतिषशास्त्र** में खगोल, गणित और फलित नाम के तीन भाग प्रसिद्ध हैं। वेदांग ज्यौतिष की भी रचना ईसा-पूर्व काल में हो चुकी थी। **निघण्टु** के नाम से वैदिक शब्दों का एक कोश बनाया गया था। यास्क ने मन्त्रों का उदाहरण देते हुए इस पर विशद भाष्य लिखा है। यही आजकल **निरुक्त** के नाम से प्रसिद्ध है। ये पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। वैदिक मन्त्रों की रचना छन्दोबद्ध हुई है। आजकल वैदिक और लौकिक छन्दों का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ पिंगल के **छन्दःशास्त्र** के रूप में प्रसिद्ध है। चारों वेदों और उनके छः अंगों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।

इतना ही नहीं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में और अन्यत्र भी १४ एवं १८ विद्यास्थानों का भी उल्लेख है। १४ विद्यास्थानों में ४ वेदों और छः वेदांगों के अतिरिक्त पुराण, न्याय (आन्वीक्षिकी), मीमांसा और धर्मशास्त्र का तथा १८ विद्यास्थानों में चार वेदों के उपवेदों—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र का समावेश है। हम

जानते हैं कि ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी के चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रसिद्ध अमात्य चाणक्य (कौटिल्य) ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। उसमें इन सब विद्यास्थानों का विवरण मिलता है।

महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के छोटे से ग्रन्थ 'प्रस्थानभेद' में इन सबका सुस्पष्ट परिचय देखा जा सकता है। यहाँ उपपुराणों का पुराणों में, वैशेषिकशास्त्र का न्याय में, वेदान्तशास्त्र का मीमांसा में और रामायण-महाभारत, सांख्य-पातंजल योग, पाशुपत मत एवं वैष्णव मत का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव माना गया है। सौगतों (बौद्धों) के माध्यमिक, विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम के चार भेदों के अतिरिक्त चार्वाक और दिगम्बर जैन मत की भी यहाँ चर्चा है।

इन सभी शास्त्रों की चर्चा के साथ यहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का, शिक्षा आदि षडंगों का, पुराण आदि चार उपांगों का और धनुर्वेद आदि चार उपवेदों का बोधगम्य परिचय दिया गया है। इस छोटे से ग्रन्थ का परिशिष्ट के रूप में पुनः प्रकाशन हमने शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमबाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित शैवाचार्य सर्वात्मशंभु की रचना सिद्धान्तप्रकाशिका में किया है (पृ० ४५-५३)। यह भारतीय वाङ्मय का निगमाधीन विभाग है।

सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ० १८-३५) में आगमशास्त्र के अनुसार भारतीय वाङ्मय को पाँच विभागों में बाँटा गया है। उनके नाम ये हैं—लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मान्त्र। आयुर्वेद, दण्डनीति आदि का लौकिक शास्त्र में; वेद, वेदांग, मीमांसा आदि का वैदिक विभाग में; सांख्य, योग, वेदान्त आदि का आध्यात्मिक शास्त्र में; पाशुपत, कापालिक, महाव्रत आदि का अतिमार्ग में और सिद्धान्तशास्त्र आदि का मान्त्र विभाग में परिगणन किया गया है। इन पाँच मुख्य विभागों के पुनः पाँच-पाँच अवान्तर विभाग किए गए हैं। संक्षेप में आस्तिक-नास्तिक शास्त्रों का भी परिचय यहाँ दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने ऊपर निर्दिष्ट १४ विद्यास्थानों के अतिरिक्त लक्षण, हेतुविद्या, आध्यात्मिकी विद्या, चिकित्साशास्त्र और शिल्पशास्त्र नाम के पाँच विद्यास्थानों की भी चर्चा की है।

मान्त्र विभाग के अन्तर्गत यहाँ (पृ० ३४) वाम, दक्षिण (भैरव), गारुड़ (विषचिकित्सा) और भूत (मानसिक चिकित्सा) तन्त्रों का स्वरूप भी वर्णित है। मान्त्र विभाग में परिगणित सिद्धान्त आदि पंचविध तन्त्रों का आविर्भाव पंचब्रह्म के प्रतिनिधि पशुपतिनाथ के ईशान आदि पाँच मुखों से माना जाता है। ईशान नामक ऊर्ध्व मुख से विनिर्गत सिद्धान्तागमों की संख्या २८ और इनके उपागमों की संख्या २०७ मानी गई है। इसी तरह से गारुड़, भैरव, भूत और वाम तन्त्रों की संख्या भी शताधिक मानी गई है। ६४ तन्त्रों की नौ प्रकार की नामावलियाँ उपलब्ध हैं। इन सबका परिचय

लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के विस्तृत उपोद्घात में देखा जा सकता है। वहीं हमने तन्त्रागमशास्त्र के लगभग ४०० ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय भी दिया है।

संक्षेप में यही है निगम (वेद) और आगम (तन्त्र) विभाग के अन्तर्गत आने वाले शास्त्रों का परिचय। यहाँ कुछ ऐसे शास्त्र हैं, जिनको दोनों विभागों में देखा जा सकता है। इनमें अन्तर इतना ही है कि प्रथम विभाग में वैदिक और द्वितीय विभाग में आगमिक दृष्टि को प्रधानता दी गई है। इस प्रकार प्राचीन भारत में विकसित वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियों के वाङ्मय का यह अतिसंक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। शैव और वैष्णव आगमों की आगे भी चर्चा होगी।

जैन, बौद्ध और लोकायत शास्त्र

जैन, बौद्ध और लोकायत मतों के परिचय के बिना यह सर्वेक्षण अधूरा रहेगा। कुछ विद्वान् नास्तिक विभाग में इनको रखते हैं, किन्तु पाणिनि की परिभाषा के अनुसार नास्तिक वे हैं, जिनका परलोक में विश्वास नहीं है। इसके अनुसार लोकायत दर्शन ही नास्तिक की परिधि में आ पाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस मत का उल्लेख मिलता है। चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध इस मत के प्रवर्तक देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है, आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, राजा ही ईश्वर है और उसके निग्रह-अनुग्रह के अतिरिक्त स्वर्ग-नरक की भी कोई स्थिति नहीं है। वेदभाष्यकार सायण-माधव बन्धुओं ने अपने ग्रन्थ सर्वदर्शनसंग्रह में सबसे पहले चार्वाक दर्शन का ही परिचय दिया है। 'लोकायत' शीर्षक से अंग्रेजी और हिन्दी में एक ग्रन्थ भी आज उपलब्ध है। दसवीं शताब्दी से पहले के संस्कृत ग्रन्थ तत्त्वोपप्लवसिंह में अकाट्य तर्कों के आधार पर इस मत की स्थापना की गई है।

ऋषभवेद से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त २४ तीर्थंकर जैन धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। गणधरों के द्वारा इनकी वाणियों का ग्रन्थन किया गया। ये आगम के नाम से प्रसिद्ध हुए। बौद्ध वाङ्मय के पालि भाषा के साहित्य के समान ही प्राकृत भाषा में निबद्ध इस जैन साहित्य की भी अतिविशाल ग्रन्थ-सम्पत्ति है। इसका परिचय किसी प्रतिष्ठित जैन विद्वान् द्वारा निर्मित इतिहास-ग्रन्थ से प्राप्त किया जा सकता है। वैसे जैन तन्त्रों का परिचय देने का एक लघु प्रयास हमने अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ० ७७५-८१५) में अवश्य किया है।

वैदिक, जैन और बौद्ध वाङ्मय को काल की दृष्टि से हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। वैदिक विभाग को जैसे हम यज्ञीय कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और स्वात्मदेवता की उपासना के रूप में तीन काल-खण्डों में देखते हैं, उसी तरह जैन और बौद्ध धर्म के भी चैत्य-स्तूप उपासना, मूर्तिपूजा और रहस्यात्मक विधि-विधानों के आधार पर तीन विभाग कर सकते हैं। पहला विभाग ईसा-पूर्व शताब्दियों का, दूसरा पहली से

छठी शताब्दी तक का और तीसरा सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का माना जा सकता है। जैन धर्म दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी तथा बौद्ध धर्म हीनयान, महायान और वज्रयान नाम के तीन-तीन भेदों में विभक्त है। जैन धर्म का साहित्य प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में तथा बौद्ध साहित्य पालि, संस्कृत और सन्तों की अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की चर्चा भागवत महापुराण में वर्णित भगवान् के २४ अवतारों में भी की जाती है और २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काल आधुनिक इतिहासज्ञों ने ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी निर्धारित किया है। २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर भगवान् बुद्ध के ज्येष्ठ समसामयिक माने जाते हैं। जैन धर्म-दर्शन का तत्त्वार्थसूत्र दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना माना जाता है। यहाँ 'सत्' की परिभाषा अतीव बोधगम्य है। वह इस प्रकार है—"**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**"। बालक का उत्पाद होता है। जब वह युवक या वृद्ध हो जाता है, तो पहली अवस्था का व्यय (क्षय) हो जाने पर भी व्यक्ति की सत्ता बनी रहती है। ध्रौव्य नाम से इसको यहाँ इंगित किया गया है। बालक, युवक और वृद्ध अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होते हुए भी इन सबमें ध्रुव (निश्चित) रूप में सर्वत्र व्यक्ति विद्यमान रहता है। सत् को नित्य अथवा अनित्य मानने वाले दार्शनिकों की अपेक्षा जैनों का अनेकान्तवाद इस उदाहरण से पुष्ट होता है। तत्त्वार्थसूत्र के साथ ही जैन धर्म में भी संस्कृत भाषा प्रविष्ट हुई और वहाँ अनेक महनीय दार्शनिक ग्रन्थ भी लिखे गए।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद विनयधर उपालि (नापित) के नेतृत्व में उनके द्वारा दिये गये समस्त उपदेशों का संग्रह किया गया था। धर्मसंगीति के नाम से बाद में भी यह कार्य चलता रहा। अभी हाल में वर्मा (म्यांमार) में भी इस तरह की एक धर्मसंगीति आयोजित हुई थी। श्रीलंका और वर्मा में आज भी पालि भाषा के इस वाङ्मय का अध्ययन होता है। त्रिपिटक के नाम से यह प्रसिद्ध है। हमने "बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति" शीर्षक एक निबन्ध में बौद्ध पालि और संस्कृत वाङ्मय का अतिसंक्षिप्त परिचय दिया था। लखनऊ से प्रकाशित होने वाली 'त्रिपथगा' में इसका प्रकाशन हुआ था। इसको अब हमारे "निगमागम संस्कृति" (पृ० १२८-१४६) शीर्षक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। बौद्ध तन्त्र-साहित्य का परिचय हमने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ (पृ० ६८३-७७३) में दिया है। पालि भाषा में लिखे गये 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ का महत्त्व भगवद्गीता के समान है। इसी तरह ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के ग्रीक सम्राट् मिनेंडर (मिलिन्द) और आचार्य नागसेन के संवाद के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ "मिलिन्दप्रश्न" का भी अपना महत्त्व है। हमें यह भी याद रखना है कि विष्णु के दस अवतारों में भगवान् बुद्ध की भी गणना की जाती है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी की वैष्णव रचना

अहिर्बुध्न्यसंहिता में लोकनाथ के रूप में इनका स्मरण किया गया है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं—"**केशवधृत बुद्ध शरीर**" बहुसंख्यक भारतीय प्रतिदिन संकल्प-वाक्य में 'बौद्धावतारे' का उल्लेख करता है।

इस प्रकार हमने यहाँ ईसा-पूर्व काल में विकसित भारतीय साहित्य को प्रधान रूप से प्रस्तुत किया है। निबन्ध के शीर्षक के अनुसार आधुनिक दृष्टि से इनके कालक्रम पर विचार कर लेना भी जरूरी है।

काल निर्णय

वैदिक साहित्य

वेदों के कालनिर्णय में आजकल विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। इनके आधार पर ईसा-पूर्व १२वीं शताब्दी से लेकर २५ हजार ई० पूर्व तक इनका रचनाकाल माना जाता है। भारत में मोहेंजोदड़ो के जैसे पश्चिम एशिया के मैसोपोटामिया (आधुनिक इराक) में 'उर' नामक स्थान पर एक पुरानी बस्ती मिली है। इनका समय लगभग एक-सा ही माना जाता है। वहाँ कुछ इष्टका-लेख मिले हैं। उनमें प्राप्त एक सन्धिपत्र इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण साक्षी हो सकता है। यहाँ मित्रावरुण और नासत्य को साक्षी मानकर हस्ताक्षर किये गये हैं। ये सभी ऋग्वेदीय देवता हैं। स्पष्ट है कि उस समय तक वहाँ वैदिकं वाङ्मय का प्रसार हो चुका था। बिना किसी वैमत्य के इसके आधार पर वेदों के काल की उत्तर सीमा का निर्धारण किया जा सकता है।

आर्यों के बाहर से आकर भारत पर कब्जा करने की बात का आजकल अनर्गल प्रचार किया जाता है। एक भारतीय विद्वान् ने इसका जवाब दिया है कि वैदिक वाङ्मय में कहीं भी आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता। मोहेंजोदड़ो की लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। उसके बिना हम अनुमान के आधार पर जो चाहें, लिख सकते हैं। ईरान के प्राचीन पारसीक धर्म के ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसके आधार पर भी हम किसी सर्वमान्य तथ्य तक पहुँच सकते हैं। अभी तो हमें ऐसा लगता है कि एक निश्चित लक्ष्य के अनुसार यह प्रचारित किया जा रहा है कि जब आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर पुराना सब कुछ नष्ट कर दिया, तब हम लोगों को भी यह अधिकार है कि यहाँ का पुराना सब कुछ नष्ट कर नये विचारों को बढ़ावा दिया जाय। ईसाइयों के सबसे बड़े धर्मगुरु भी इस प्रवृत्ति से अपने को बचा पाने में असमर्थ ही रहे हैं।

वैदिक वाङ्मय का विकास संहिताकाल, ब्राह्मणकाल, आरण्यक और उपनिषत्काल तथा सूत्रकाल और वेदांग काल के रूप में विभक्त किया जाता है। इन सबकी रचना बुद्धपूर्व काल तक अवश्य हो चुकी थी। उपनिषदों का विशाल साहित्य आज उपलब्ध है, किन्तु जिन उपनिषदों के ऊपर आचार्य शंकर के भाष्य उपलब्ध हैं,

उनको अवश्य ही प्राचीन माना जाता है। इनमें भी बृहदारण्यक और छान्दोग्य आदि का विशिष्ट स्थान है। श्वेताश्वतर उपनिषत् का काल विवादास्पद है। किन्तु एक विद्वान् ने अकबरकालीन अल्लोपनिषद् से इसकी तुलना की है। इसे हम अपसंस्कृति का प्रभाव ही मान सकते हैं। वस्तुत: इस पर पाशुपत मत का प्रभाव माना जा सकता है।

पाशुपत मत

कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रियाध्याय में रुद्र की महती महिमा वर्णित है। यहाँ रुद्र को शूद्रों और अतिशूद्रों का भी आराध्यदेव बताया गया है। मैत्रायणीसंहिता और तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र के अघोर, वामदेव आदि पाँच ब्रह्म-मन्त्रों का और भस्मोद्धूलन (स्नान) विधि का वर्णन है। पाशुपतसूत्र-कार लकुलीश ने इन्हीं का अनुसरण किया है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद और सातवाहन नृपति की गाथासप्तशती में भी इस विधि के अनुयायियों का उल्लेख है। महाभारत में उमापति भूतपति श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवर्तक माना गया है। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में विद्वानों में परस्पर वैमत्य है, किन्तु मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर शैवमत की सत्ता उस समय विद्यमान थी, यह बात निर्विवाद रूप में सिद्ध हो चुकी है। यहाँ पशुओं से घिरी हुई ध्यानमग्न योगी की उपलब्ध आकृति को पशुपति के रूप में पहचाना गया है। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में पशुपति के भव, शर्व आदि नाम उपलब्ध होते हैं, जो अष्टमूर्ति शिव से समरस हैं। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के मंगल श्लोक में अष्टमूर्ति शिव की ही स्तुति की गई है, किन्तु पंचब्रह्ममूर्ति शिव का स्वरूप इससे प्राचीन है। अभी ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक आदि के प्रमाण से इसकी चर्चा हो चुकी है। पश्चिम-समुद्र तटवर्ती गोकर्ण तीर्थ पाशुपत मत का प्राचीनतम स्थान है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इस स्थान की चर्चा की है और नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर में पंचमूर्ति शिव के पुजारी इसी पवित्र स्थान के निवासी हैं। उदयपुर (राजस्थान) के पास स्थित एकलिंग जी के मन्दिर में भी पंचमूर्ति शिव ही विराजमान हैं। यहाँ ऊर्ध्वमेढ्र लकुलीश की मूर्ति भी स्थापित है और नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर की पहाड़ी पर इसी रूप में इनके दर्शन भी होते हैं। मृत्युंजयभट्टारक (नेत्रतन्त्र १३. १०-१२) में वर्णित ध्यान से ये समरस हैं।

वेद, पुराण-इतिहास, आगम, चिकित्साशास्त्र आदि में चर्चित अनेक आचार्यों के नाम पुराणों में वर्णित पाशुपत योगाचार्यों की नामावली में मिलते हैं। श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों का परिचय हमने ''पुराणवर्णिता: पाशुपता योगाचार्या:'' शीर्षक संस्कृत निबन्ध में विस्तार से दिया है। यह निबन्ध पहले काशिराजन्यास, रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित होने वाली षाण्मासिक ''पुराणम्'' पत्रिका में और बाद में ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' (पृ०

८६-१०६) नामक हमारे निबन्ध-संग्रह में प्रकाशित हुआ है। इसी ग्रन्थ में (पृ० १०७-११८) ''पुराणानां नूनमागममूलकत्वम्'' शीर्षक से एक अन्य निबन्ध भी संगृहीत है। इसमें नारदीयमहापुराण, अग्निपुराण, गरुड़पुराण आदि के प्रमाण से वर्तमान पुराण-साहित्य पर आगमों के प्रभाव को दिखाया गया है।

लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त अट्ठारह पाशुपत अवतारों की नामावली जैन आचार्य गुणरत्न-कृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका में और राजशेखर सूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय में भी उपलब्ध है। इस नामावली में पहला नाम लकुलीश का और अन्तिम नाम विद्यागुरु का है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा को आगे बढ़ाया है। विद्यागुरु का उल्लेख काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों ने भी किया है।

डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने लकुलीश का काल दूसरी शताब्दी स्थापित किया है। पाश्चात्य विद्वान् इसको मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी यह प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है कि भारतीय साहित्य का काल-निर्धारण करते समय वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि यथासम्भव अधिक से अधिक इनका काल ईसा-परवर्ती स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि लकुलीश के ऊपर निर्धारित समय से लेकर १४वीं शती के अचलगढ़ शिलालेख के काल तक लकुलीश पाशुपत मत का प्रभाव उत्तरभारत के गुजरात, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में मथुरा तक तथा दक्षिणभारत के कुछ प्रदेशों में भी विद्यमान था, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

पांचरात्र मत

शतपथब्राह्मण (१३. ३. ४; १३. ६.१) में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है और छान्दोग्य उपनिषद् (७. १. ३) में एकायन विद्या का। वहीं (३. १७. १-६) घोर आंगिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दिए गए उपदेश में सत्य और अहिंसा का भी समावेश है, जो पांचरात्र मत का मुख्य सिद्धान्त है। नारायणीयोपाख्यान की वसु उपरिचर की कथा से इस बात की पुष्टि होती है कि वैदिक हिंसा का समर्थन करने के कारण उसकी आकाश-गमन की सामर्थ्य नष्ट हो गई थी। ज्ञानार्णव नामक जैन ग्रन्थ में भी इस घटना का उल्लेख है। नवीं शताब्दी के उत्पल वैष्णव के समय में कश्मीर में भी इस शास्त्र का प्रचार था। इनके ग्रन्थ में जिन अनेक ग्रन्थों के नाम और उद्धरण मिलते हैं, उनमें पांचरात्रश्रुति और पांचरात्रोपनिषद् भी हैं। उसी समय के वामननाथ का ग्रन्थ संवित्प्रकाश अब प्रकाशित हो चुका है। काश्मीरागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ रामानुजाचार्य के परमगुरु यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उद्धृत है।

डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी, डॉ० आर० जी० भाण्डारकर आदि विद्वानों ने छान्दोग्योपनिषत्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पातंजल महाभाष्य (४. ३. ८८ एवं ५. २. ७६) और शिलालेखों के आधार पर इस शास्त्र की प्राचीनता को सिद्ध किया है।

शिलालेखों में घोसुण्डी शिलालेख, बेसनगर शिलालेख और ई० पू० दूसरी शती के यज्ञसूरि सातकर्णि का शिलालेख (आन्ध्रप्रदेश) अतिप्रसिद्ध हैं। नारायणीयोपाख्यान की चर्चा आ ही चुकी है।

पातंजल महाभाष्य में—"**अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्**" (३. ३. ११) इस तरह से स्मृत प्राचीन मध्यमिका नगरी आजकल राजस्थान राज्य के चित्तौड़गढ के पास स्थित घोसुण्डी से अभिन्न है, यहाँ कभी शिलाप्राकार से वेष्टित नारायणवाटिका थी। इसे पाराशरि के पुत्र गाजायन ने भगवान् वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था। सात्वतसंहिता (२५. ३६६-३६७) में इस तरह के सप्राकार साराम स्थल को भगवदर्पित करने का फल प्रदर्शित है। ई० पूर्व के इस घोसुण्डी शिलालेख से सात्वतोक्त इस विधान की प्राचीनता स्पष्ट होती है। आज भी तीर्थराज पुष्कर में तथा वृन्दावन में स्थित श्रीरंगम् जी के मन्दिरों का यही स्वरूप है। वैखानस, पांचरात्र और भागवत नाम के तीन प्रकार के वैष्णवागमों का परिचय हमने "वैष्णवागमविमर्शः" शीर्षक ग्रन्थ में दिया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से इसका प्रकाशन हुआ है। वैखानस सिद्धान्त वैदिक विचारों के अधिक नजदीक है। तिरुपति में भगवान् वेंकटेश (बालाजी) की उपासना वैखानस पद्धति से होती है और आन्ध्रप्रदेश में इस मत को आज भी मान्यता मिली हुई है। पांचरात्र की पद्धति से श्रीरंगम् (तमिलनाडु) में श्रीरंगनायक की उपासना इसी शास्त्र के अनुसार होती है। तमिलनाडु के अनेक भागों में आज भी इसको जनमानस की मान्यता प्राप्त है। भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख सम्राट् हर्षवर्धन के राजकवि बाण के हर्षचरित में उपलब्ध है। आजकल उत्तरभारत में इसका प्रचार देखने को मिलता है। वाल्मीकिरामायण, महाभारत और भागवत इन तीनों मतों के प्रतिनिधि-ग्रन्थ माने जा सकते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र (१. ८. ३८-४०) में वैष्णव सम्प्रदाय के दस भेदों का वर्णन मिलता है।

इन सबका परिचय तथा त्रिविध प्राचीन वैष्णवागमों के साहित्य, योग, दर्शन आदि का स्वरूप हमारे उक्त ग्रन्थ "वैष्णवागमविमर्शः" में देखा जा सकता है। अभी हाल में स्वामीनारायण संप्रदाय, अक्षरधाम (गांधीनगर, अहमदाबाद) के साधु श्रुतिप्रकाश दास जी ने अब तक प्रकाशित सभी सूचियों के आधार पर और निजी अनुशीलन के बल पर पांचरात्र संहिताओं की सूची बनाई है। यहाँ बताया गया है कि अनेक विद्वानों के प्रयत्न से अब तक २२८ ग्रन्थों को सूचीबद्ध किया गया था और इनके निजी प्रयास से परिज्ञात १७२ ग्रन्थों के नाम अधिक जोड़े गये हैं। इस प्रकार यहाँ कुल मिला कर ४६० ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। "पंचरात्रसंहिता-सूचिः" के नाम से यह ग्रन्थ अभी २००२ ई० में उसी संस्था से प्रकाशित हुआ है।

शाक्त मत

आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों में शाक्त मत के साथ न्याय नहीं किया गया। वे आठवीं शताब्दी से पहले इसकी सत्ता को मानने को तैयार नहीं हैं। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि मथुरा-संग्रहालय में प्रांय: २३०० वर्ष पुरानी मौर्य-शुंग काल की मनसा देवी की प्रतिमा संगृहीत है। महाभारत में भगवती दुर्गा के दो स्तोत्र उपलब्ध हैं—पहला विराट पर्व के छठे अध्याय में और दूसरा भीष्म पर्व के २३ वें अध्याय में। आधुनिक इतिहासज्ञ इनको प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु महाभारत के भाण्डारकर शोध संस्थान के परिष्कृत संस्करण में भी श्रीपर्वत, शाकंभरी, धूमावती जैसे शब्दों की उपलब्धि उस समय शैव और शाक्त मतों की सत्ता को सूचित करती है। हरिवंश के विष्णुपर्व के तृतीय अध्याय में आर्यास्तव मिलता है। वहाँ देवी को शबर, बर्बर, पुलिन्द आदि के द्वारा सुपूजित कहा गया है (३.७) और वहीं विन्ध्यवासिनी का नाम भी उपलब्ध है (३.८)। उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित ४८० ई० के शिलालेख में भ्रमराम्बा की स्तुति की गई है। इस शिलालेख का परिचय ''एपिग्राफिया इण्डिका'' के ५० वें वर्ष के चतुर्थ अंक (पृ० १२०-१३७) में दिया गया है। इसी प्रसंग में मार्कण्डेयपुराण-स्थित दुर्गासप्तशती की चर्चा करना भी अनुचित न होगा। ६४ तन्त्रों की नामावलियों की चर्चा हम कर चुके हैं। कुब्जिका, काली, तारा जैसी देवियों की चर्चा अभिनवगुप्त से पूर्व के साहित्य में मिलती है। ऐसी स्थिति में शाक्त तन्त्रों की प्रवृत्ति आठवीं शताब्दी के बाद हुई, इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

बौद्ध तन्त्र

कुछ विद्वान् बौद्ध तन्त्रों की प्रवृत्ति का काल तीसरी-चौथी शताब्दी मानते हैं। यह भी सही नहीं है। गलत आधार पर यह निर्णय हुआ है। विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध विद्वानों के ग्रन्थ में आश्रय-परावृत्ति शब्द आया है। यहाँ परावृत्ति शब्द प्रत्याहार के अर्थ में प्रयुक्त है। यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि रहस्यवाद का प्रवेश सर्वप्रथम कौल तन्त्रों में हुआ। मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (पृ० ७४) में अघोरशिवाचार्य का कहना है कि हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र क्रमशः वेद, सांख्य और कौल तन्त्रों के प्रवर्तक हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इनका काल पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है। महांपण्डित राहुल सांकृत्यायन ने ''पुरातत्त्वनिबन्धावली'' (पृ० ११८) में नीलपट दर्शन की चर्चा की है। इस दर्शन की प्रवृत्ति का काल वहाँ ५१५-५२४ ई० बताया गया है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की स्थापना से यह समरस है। इस मनुष्य देह में सभी देवता निवास करते हैं, अभिनवगुप्त के अनुसार इस सिद्धान्त की स्थापना लकुलीश आदि आचार्यों ने की थी। कौल मत के अनुयायियों का कहना है कि जब हम जड़ प्रस्तर, काष्ठ, पट आदि में देवता का आवाहन कर उसकी उपासना कर सकते

हैं, तो इस चेतन देह में ऐसा क्यों नहीं कर सकते। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु इतना हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि इन दोनों आचार्यों के समय में पाँच सौ वर्षों से अधिक का अन्तर है। स्पष्ट है कि तन्त्रों में इस प्रवृत्ति का प्रवेश कौल मत की प्रवृत्ति के बाद ही हुआ। जापानी बौद्ध विद्वान् गुह्यसमाज तन्त्र की प्रवृत्ति छठी शताब्दी के बाद ही मानते हैं।

स्मार्त तन्त्र

तन्त्र-ग्रन्थों में प्रपंचसार और शारदातिलक का एक अलग ही स्वरूप है। प्रपंचसार का नाम आचार्य शंकर से और शारदातिलक का लक्ष्मणगुप्त से जुड़ा माना जाता है। प्रपंचसार की रचना ईशानशिवपद्धति (१०वीं शताब्दी) तक अवश्य हो चुकी थी, जहाँ यह अनेक स्थानों पर स्मृत है। शारदातिलक-कार को अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त से अभिन्न माना जाता है। इसको मान्यता नहीं दी जा सकती। ये दोनों ग्रन्थ पंचायतन पूजा से सम्बद्ध हैं। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषय से सम्बद्ध अन्य अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इन सबको हम स्मार्त मत से जोड़ सकते हैं। शारदातिलक की राघव भट्ट की टीका में और ईशानशिवपद्धति जैसे ग्रन्थों में इसके साहित्य की विशालता का परिचय मिलता है। इसका भी काल ईसा की छठी शताब्दी तक अवश्य पहुँच जाता है। इसी शताब्दी की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण में पंचायतन पूजा का उल्लेख मिलता है। अत: यह मानना उचित ही होगा कि पंचायतन पूजा का आरम्भ आचार्य शंकर से पहले हो चुका था। महान् ज्योतिषी वराहमिहिर का काल पाँचवीं-छठी शताब्दी सुनिश्चित है। उनके इस श्लोक को देखिए—

विष्णोर्भागवता मघाश्चसवितु: शम्भो: सभस्मद्विजा
मातृणामय मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मण:।
शाक्या: सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥

(बृहत्संहिता, ५९.१०)

इस श्लोक में विष्णु, सूर्य, शिव, मातृगण, ब्रह्मा, बुद्ध और अर्हन् की उपासना की चर्चा है और बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसे उसीकी बताई पद्धति से आराधना करनी चाहिए।

''पाँच उपास्य देवताओं के आयतन (मन्दिर) जहाँ एक साथ हों'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसको पंचायतन कहा जायेगा, जहाँ शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश नामक पाँच देवताओं के मन्दिर एक साथ हों। इनमें अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार मध्य में एक देवता प्रमुख होती है और अन्य चार देवताओं के आयतन उसी मन्दिर की चारों विदिशाओं (कोणों) में स्थापित किये जाते हैं। काशी के विश्वनाथ मन्दिर में इसे

देखा जा सकता है। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार स्मार्त विभाग में शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और चान्द्र सम्प्रदाय का समावेश किया गया है। कुछ उपनिषदों के अतिरिक्त हयशीर्षपंचरात्र (संहिता), सौर-संहिता, अग्नि-गरुड़-नारद-शिव आदि पुराण, विष्णुधर्मोत्तर, प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय, पूर्वचर्चित प्रपंचसार, कर्मकाण्ड-क्रमावली, ईशानशिवपद्धति, शारदातिलक, महाकालसंहिता, तृचभास्कर जैसे ग्रन्थ और दस महाविद्याओं से संबद्ध साहित्य का भी इसीमें समावेश माना गया है।

इन सबसे ऊपर शक्तिसंगमतन्त्र का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ० २२-२८) में देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन, आयतन और आगम नाम के सात पर्यायों के साथ तन्त्र, उपतन्त्र, संहिता, चूड़ामणि, अर्णव, डामर, यामल, सूक्त, कक्षपुटी, विमर्शिनी, कल्प, कल्पलता, चिन्तामणि, उड्डालक, उड्डीश, अवतार, बोध, कल्पद्रुम, कामधेनु, सद्भाव, तत्त्व, क्रम, अमृत, दर्पण, तर्पण, सागर जैसे शब्दों से अंकित सहस्राधिक तन्त्रों की संक्षिप्त सूचना दी गई है। इस एक प्रकृति वाले विशाल तन्त्र-साहित्य का प्रचार-प्रसार कैसे हुआ, यह एक परीक्षणीय विषय है।

आचार्य शंकर का काल

प्रपंचसार के प्रसंग में हम आचार्य शंकर के काल के विषय में विचार करना चाहते हैं। प्रपंचसार में किसी भी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम उपलब्ध नहीं है, तो भी इस ग्रन्थ के उपलब्ध सभी टीकाकार इस विषय में एकमत हैं कि यह ग्रन्थ भगवत्पाद शंकराचार्य की कृति है। इस ग्रन्थ पर लिखी गई २१ टीकाओं की जानकारी मिली है। इस प्रसंग में इन टीकाओं का गहन अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य शंकर का जन्म केरल में हुआ, इस विषय में कोई विवाद नहीं है, किन्तु उनका समय भी निश्चित मानकर उनके द्वादश-शताब्दी-पूर्ति महोत्सव को पूरे देश में बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भट्ट कुमारिल का काल ही आचार्य शंकर का भी काल है। भारतीय परम्परा भी उस बात को स्पष्ट करती है कि भट्ट कुमारिल के तुषाग्नि में प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्य शंकर उनके पास शास्त्रार्थ के लिए पहुंचे थे और बाद में प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र की पत्नी भारती की मध्यस्थता में मण्डन मिश्र के साथ यह शास्त्रार्थ हुआ था। यहाँ आचार्य शंकर का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इस आधार पर हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ० तून गान्द्रियान ने इस स्थापना को स्वीकार नहीं किया (पृ० ६०), तो भी वे कहते हैं कि आज इनका जो समय निर्धारित किया गया है (७८८-८२० ई०), उसे १०० वर्ष पहले अवश्य ले जाया जा सकता है।

शक्तिसंगमतन्त्र में चार स्थानों पर आचार्य शंकर की चर्चा मिलती है। उन सबको एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी स्थलों पर उन्हींकी चर्चा है। यहाँ हम उनमें से तीन वचनों को क्रमशः एकत्रित कर दे रहे हैं—

षट्शतीवत्सरान्ते तु द्विसप्तत्युत्तरं शिवे।
आविर्भवति देवेशि दिव्यौघद्वारतः शिवे॥
बौद्धपाषण्डनाशार्थं सम्प्रदायार्थमेव च॥
(श.सं.त.१.१.१६-१७)

इस प्रथम उद्धरण में आचार्य शंकर के नाम का उल्लेख नहीं है, तो भी इतना ज्ञात हो जाता है कि बौद्धों के पाखण्ड को दूर करने और संप्रदाय की स्थापना के लिए संवत् ६७२ में इनकी उत्पत्ति हुई। बाकी के दो उद्धरण इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में हैं। वे इस प्रकार हैं—

कलौ युगे तु सम्प्राप्ते जम्बुद्वीपे महेश्वरि।
खण्डे भारतसंज्ञे तु श्रीशैलगिरिगह्वरे॥
परिधावीवत्सरे तु सप्तम्यां शनिवासरे।
उद्दण्डवर्षातीते तु दिननित्योदये शिवे॥
सकारोदयवेलायां मध्याह्ने शाङ्करे गृहे।
बौद्धोत्सादनकार्यार्थं शङ्करो मर्त्यरूपधृक्॥
अवतीर्णो महेशानि पञ्चप्रेतसमन्वितः।
(श.सं.त.४.८.६२-६५)

यहाँ आचार्य शंकर की उत्पत्ति के देश-काल आदि के वर्णन के साथ यह भी बताया गया है कि बौद्धों के उत्सादन के लिए पाँच प्रेतों के साथ शंकर ने मानव शरीर धारण किया था। पाँच प्रेतों का वर्णन वहीं इस प्रकार किया गया है—

कुलौ युगे शङ्करो हि ह्यवतीर्णो महेश्वरि॥
शङ्करश्च महेशानि हस्तामलक एव च।
सुरेश्वरस्ततः प्रोक्तस्तोटकस्तदनन्तरम्॥
पद्मपादः पञ्चमः स्यात् पञ्चप्रेतानुकल्पनम्।
(श सं. त., ४. ८. १११-११३)

यहाँ आचार्य शंकर और उनके चार शिष्यों का पंचप्रेत के रूप में उल्लेख स्पष्ट है। इस प्रसंग की विस्तृत व्याख्या हमारे ''शक्तिसंगमतन्त्रे शाङ्करदशनामिसम्प्रदायः'' शीर्षक से ''निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्'' (पृ० ८३-८५) में संगृहीत निबन्ध में देखी जा सकती है।

शैवागमों में वर्णित पंचब्रह्म-स्वरूप से भी हम इनकी तुलना कर सकते हैं। आचार्य शंकर ने चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना कर अपने चार शिष्यों को, जिनकी ऊपर के उद्धरण में चर्चा है, अधिकृत किया था और यह परम्परा आज भी चल रही है।

स्पष्ट है कि शक्तिसंगमतन्त्र के इन तीनों स्थलों पर वर्णित शंकर आचार्य शंकर ही हैं और विक्रम संवत् ६७२ इन्हीं के आविर्भाव का समय है, यह जानने में हमें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होना चाहिए। ऊपर के द्वितीय उद्धरण में तिथि, वार और वर्ष के नाम का भी उल्लेख है। ज्यौतिषशास्त्र की पद्धति से गणना कर इसकी पुष्टि की जा सकती है कि विक्रम संवत् ६७२ में इन सबका योग था या नहीं? इतना स्पष्ट है कि यह तिथि भट्ट कुमारिल के काल से मेल खाती है। चतुर्थ उद्धरण को यहाँ इसलिए छोड़ दिया गया है कि उसमें आचार्य शंकर के काल के आधार पर प्रस्तुत तन्त्र के आविर्भावकाल की चर्चा की गई है। इस प्रसंग में हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हमें गड्डुरिका-प्रवाह में नहीं पड़ जाना चाहिए और अपनी स्थापित परम्पराओं को, बिना पुष्टतर प्रमाण उपलब्ध हुए, नहीं छोड़ना चाहिए। योगाचार्यों की परम्परा के विषय में भी हम यही बात कह सकते हैं।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय का कालिक पर्यवेक्षण करते समय हमने यहाँ कालविषयक भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टि का उल्लेख कर, भारत के प्राचीन विशाल साहित्य को पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार विभिन्न काल-खण्डों में विभक्त कर, उसका परिचय देने का प्रयत्न किया है। अपसंस्कृति से प्रभावित होकर क्या हम भगवाकरण के नाम पर इस विशाल अद्भुत साहित्य को, जो एकता में अनेकता और अनेकता में एकता स्थापित कर इस विश्व को नई दृष्टि देने में आज भी समर्थ है, तिलांजलि दे देना चाहेंगे? थोड़ा ठहर कर इस विषय पर हमें विचार करना होगा। इसी पृष्ठभूमि में अब हम तमिल जैसी भारतीय तथा ग्रीक आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल देना चाहते हैं।

संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त भारत में तमिल भाषा भी पुरानी मानी जाती है। इसका भी विशाल साहित्य है। इसकी सहायता से हम शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य और सिद्धान्तों से परिचित हो सकते हैं। शैव आगमों के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार तमिल साहित्य का आगमों के रूप में संस्कृतीकरण हुआ और दूसरे के अनुसार आगमों के सहारे दक्षिण में शैव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। यही न्याय वैष्णव पांचरात्र संहिताओं और तमिल वैष्णव साहित्य पर भी लागू होता है। शैव आगमों और पांचरात्र संहिताओं में भारतीय प्रदेशों का त्रिविध विभाजन मिलता है। उसके अनुसार तो इस

पूरे साहित्य का प्रादुर्भाव मध्यदेश में हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। अभिनवगुप्त के "**निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः**" इस वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। इस विषय पर अभी गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

कुछ आधुनिक विद्वान् शैव सिद्धान्तशास्त्र को दक्षिण भारत में विकसित दर्शन मानते हैं। यह स्थापना ठीक नहीं है। यद्यपि द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी आगमों की अवतारभूमि मध्यदेश है, ऐसा अभिनवगुप्त मानते हैं, तो भी कश्मीर के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के उद्भावक भट्ट उत्पल की तरह द्वैतवादी दर्शन के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उसे दक्षिण का दर्शन माना जाय। इसके विपरीत सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र भट्ट रामकण्ठ पर्यन्त सभी विद्वान् कश्मीर के सिद्धान्ताचार्य हैं। इनके द्वारा स्थापित परम्परा का ही दक्षिण के अघोरशिव जैसे सिद्धान्ताचार्य अनुसरण करते हैं। शैवभूषण में परिगणित १८ पद्धतिकारों में पहले कश्मीर के आचार्यों का, बाद में मध्यदेश के सोमशम्भु आदि का और सबके अन्त में दक्षिण के अघोरशिव का नाम है। इस विषय में अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्तागमों के साहित्य और दर्शन की रक्षा एवं उनका परिवर्धन दाक्षिणात्य विद्वानों ने किया है।

भारत में किसी भी प्रदेश में विकसित साहित्य को वहाँ का नाम नहीं दिया गया है, क्योंकि पूरे देश के विद्वानों ने इसमें अपना-अपना योगदान किया है। अभिनवगुप्त के समय में केरल से एक प्रशिक्षु ने आकर उनसे विद्याध्ययन किया और अपने घर वापस जाकर वहाँ इस विद्या का प्रचार-प्रसार किया था। पूरे देश में यह स्थिति मान्य रही है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा दर्शन पूरे देश की सम्पत्ति है। इस मान्यता को हमें छोड़ना नहीं चाहिए, अन्यथा पूरे देश के प्रति हमारी अखण्ड दृष्टि सुरक्षित न रह सकेगी।

शिवधर्मोत्तर के एकवचन के प्रमाण से एक भारतीय विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि शिवागम संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषाओं में लिखे गये, किन्तु वहाँ उक्त वचन का इन्होंने गलत अर्थ किया है। वहाँ पृष्ठ-१५ की टिप्पणी में यह श्लोक दिया गया है—

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्च शिष्यानुरूपतः।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः॥

यह वचन आगमों से संबद्ध न होकर वस्तुतः गुरु से संबद्ध है कि वह शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे संस्कृत, प्राकृत अथवा स्थानीय भाषा के माध्यम से आगमों को समझावे।

आजकल शैव धर्म के चार रूप अधिक प्रसिद्ध हैं। वे हैं—सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। सिद्धान्तशैव और पाशुपत मत का परिचय दिया जा चुका है। कालामुख संप्रदाय एवं मेयकण्डदेव-परवर्ती संस्कृत सिद्धान्तशैव साहित्य को हमें

दक्षिणभारत का मानना होगा। कापालिक मत का उल्लेख शक संवत् के प्रवर्तक सातवाहन नृपति के द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध 'गाथासप्तशती' में मिलता है। इस ग्रन्थ की तुलना हम हिन्दी कवि बिहारी की 'सतसई' से कर सकते हैं। संस्कृत में भी 'आर्यासप्तशती' के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इन सबकी प्रकृति एक-सी है।

ईसा-पूर्व की दो-तीन शताब्दियों तथा परवर्ती दो-तीन शताब्दियों में भारत में यूनानियों (यवनों) की उपस्थिति की सूचना मिलती है। ग्रीक सम्राट् मिनेंडर और मिलिन्दप्रश्न की चर्चा हम कर चुके हैं (पृष्ठ १२७)। मध्यमिका और बेसनगर जैसे स्थानों से ये संबद्ध रहे हैं। प्राचीन तमिल साहित्य के साथ ग्रीक साहित्य का भी इस प्रसंग में हमें सचेत अध्ययन करना चाहिए। यह कार्य आर्य-द्रविड़, भगवाकरण जैसे शब्दों से अभिव्यक्त होने वाली द्वेषपूर्ण दृष्टि से मुक्त निष्पक्ष विद्वान् ही कर सकते हैं। यदि ऐसा कार्य हुआ है, तो उसे पूरे देश के प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष रखा जाना चाहिए। वराहमिहिर की उस उक्ति की चर्चा हम कर चुके हैं कि विद्यावयोवृद्ध यवन ज्योतिःशास्त्र के सम्यक् अध्येता थे। उनका भी ऋषियों के समान आदर होना चाहिए।

ईसा की छठी शताब्दी में 'खुशरो अनशेरवा' नाम के पारसीक नृपति के समय में 'बुर्जो' नाम का एक चिकित्सक था। वह जब भारत भ्रमण के लिए आया, तो उसने वहाँ के विद्वानों की सहायता से कुछ कथाओं का पहलवी भाषा में अनुवाद किया और ५५० ई० में पुनः घर लौट आया। इन कथाओं में प्रमुख रूप से पंचतन्त्र की कथाएँ संकलित थीं। करटक और दमनक नाम के सियारों के नाम से इसका नाम ''कलीला व दिमना'' रखा गया। 'बुर्जो' का यह अनुवाद आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके आधार पर १५७० ई० पर्यन्त लगातार अनुवाद होते रहे हैं। दक्षिण एशिया के जावा से लेकर पश्चिमोत्तर यूरोप के आईसलैण्ड तक प्रचलित लगभग ६० भाषाओं और जनपदीय बोलियों में इसके दो सौ से अधिक अनुवाद हो चुके थे। पंचतन्त्र के पूना से प्रकाशित 'फ्रेंकलिन एजर्टन' के संस्करण के आधार पर ''विश्वकथासाहित्ये पञ्चतन्त्रस्य स्थानम्'' शीर्षक से लिखित हमारी एक टिप्पणी 'तन्त्रयात्रा' (पृ० २३५-२३७) में छपी है। उसके आधार पर इस ग्रन्थ की ऐतिहासिक यात्रा का परिचय मिल सकता है। संस्कृत से पहलवी, अरबी, हिब्रू, लैटिन, इटैलिक और आंग्ल भाषाओं के माध्यम से पंचतन्त्र की यह ऐतिहासिक यात्रा पूरी हुई थी।

सिद्धान्तशिरोमणि की मुनीश्वर-रचित मरीचि टीका के ज्योत्पत्तिवासना प्रकरण में एक लम्बा उद्धरण मिलता है। वहाँ बताया गया है कि पारसीक सार्वभौम 'मिरजोलक बेग' ने अपने 'जीव' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर बड़ी निपुणता से विचार किया था। ''पारसीकप्रकाश'' संस्कृत और पारसी भाषा का संस्कृत भाषा में रचित कोश-ग्रन्थ उपलब्ध है।

अरबयात्री अलबेरुनी ने पुराणों का अरबी भाषा में अनुवाद किया था और औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने उपनिषदों का। दाराशिकोह काशी के संन्यासी कवीन्द्राचार्य सरस्वती के शिष्य थे। वरुणा नदी के किनारे इनका आश्रम था और एक विशाल पुस्तकालय भी। इस पुस्तकालय में उस समय तक विद्यमान अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की सूची बड़ोदरा के गायकवाड़ शोध संस्थान से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तकालय के प्रत्येक ग्रन्थ पर बड़े-बड़े अक्षरों में ''**सर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनामिदं पुस्तकम्**'' यह वाक्य अवश्य लिखा मिलता है। काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय से लेकर देश-विदेश के अनेकों प्रसिद्ध पुस्तकालयों में स्थित इनके ग्रन्थों की इस वाक्य के आधार पर पहिचान की जा सकती है। हमारे ''सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य और उनका ग्रन्थालय'' शीर्षक निबन्ध से इनका संक्षिप्त परिचय मिल जायगा। ''निगमागम संस्कृति'' नामक हमारे निबन्ध-संग्रह में इसका पुनः प्रकाशन हुआ है (पृ० ११२-११६)।

मुसलमान संस्कृत विद्वानों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ है। ऊपर चर्चित तमिल, यूनानी, पारसी और अरबी विद्वानों के साथ १०वीं शताब्दी के बाद के इन सब विद्वानों के द्वारा रचित या अनूदित साहित्य का भी विशद परिचय अपेक्षित है। एक यूरोपियन विद्वान् ने पातंजल योगसूत्र की किसी टीका के अरबी अनुवाद की हमसे चर्चा की थी। इसका मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ था। पारसी और अरबी भाषा में अनूदित इस तरह के अन्य ग्रन्थ भी मिल सकते हैं।

इसी तरह ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से चीनी और आठवीं-नवीं शताब्दी से भोट (तिब्बती) भाषा में अनूदित सहस्राधिक ग्रन्थों की सूचना मिलती है। इन पर भी अभी कार्य करना बाकी है। इन कार्यों को कौन पूरा करेगा? यह प्रसन्नता की बात है कि सारनाथ का तिब्बती शोध-संस्थान पुनरुद्धार योजना के अन्तर्गत भोट भाषा में अनूदित साहित्य पर कार्य कर रहा है।

●●●

हमें सन्तों के उपदेशों पर चलना चाहिए

व्याकरणशास्त्र में एक नियम है—"**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**", अर्थात् यहाँ पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि नामक मुनियों का उत्तरोत्तर प्रामाण्य अभिप्रेत है। इसका अभिप्राय यह है कि ये तीनों आचार्य मिलकर व्याकरणशास्त्र को सम्पूर्ण रूप देते हैं, तो भी परवर्ती आचार्य ने पूर्व-प्रतिपादित कुछ नियमों में संशोधन किये हैं। इन संशोधनों को वहाँ वरीयता दी गई है। इसी न्याय को हम भारतीय संस्कृति के साथ भी लागू कर सकते हैं। वेदों से लेकर सन्तों की वाणियों तक भारतीय संस्कृति की धारा में आध्यात्मिकता निरन्तर गतिशील रही है और भारतीय आत्मा इसीसे आप्यायित है। आधुनिक अपसंस्कृतियों का सामना करने और उदारवादी सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने के लिए आज कन्याकुमारी से कश्मीर तक की और द्वारिकापुरी से मणिपुर तक की भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से विकसित हुईं इन सन्त-वाणियों का हमें गहराई से अनुशीलन करना चाहिए। इस देश की एकता के लिए यह अति आवश्यक है।

यह देश आज धर्म, जाति, भाषा, दलीय राजनीति, फिरकापरस्ती, प्रान्तीयता आदि के घेरों में बंटकर और भाँति-भाँति के अहंकारों से ग्रस्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचानने में असमर्थ-सा हो गया है। संसार में फैले नाना प्रकार के मतवादों ने इसे दिग्भ्रमित कर दिया है। भारत में इस प्रकार के अनेक प्रसंग आए हैं और उन सबका सामना हमने पूरे आत्मविश्वास के साथ अपने तरीके से किया है। तब हमारे भीतर आज की-सी हीनभावना नहीं पैठी थी। इस हीनभावना से मुक्त होकर ही हम अपसंस्कृतियों के प्रभाव से अपने को बचाते हुए भारतीय संस्कृति की अजस्र पावन धारा से इस पूरे देश को आप्यायित कर सकते हैं, जिससे कि पूरा समाज आपस के वैमनस्य से मुक्त होकर एकता के सूत्र में बँध सके। मनस्वी विद्वानों के सत्-प्रयत्नों से ही यह संभव हो सकता है।

महाकवि कालिदास ने कहा है कि पुराना सब कुछ अच्छा है और नया सब कुछ बुरा—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह दोनों की परीक्षा कर उनमें जो सही है, उसे ग्रहण करे। कालिदास के इस कथन की पृष्ठभूमि में आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति की व्याख्या की है। पुराना सब कुछ हेय है, इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण को उन्होंने स्वीकार न कर बताया है कि हम भारतीयता के शाश्वत मूल्यों को छोड़कर जीवित नहीं रह सकते, इसी तरह आधुनिकता को स्वीकार करने से पहले उसकी परीक्षा भी उनकी दृष्टि में आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि हम भारतीय परम्परा के अनुकूल तत्त्वों को स्वीकार करें। जब हम ऐसा करेंगे, तो हमारे सामने एक लम्बी परम्परा रहेगी। हमें उस परम्परा में से उत्कृष्ट तत्त्वों का चयन

करना पड़ेगा। ऐसा करते समय इस बात का ध्यान रखना होगा कि आधुनिकता के प्रवाह में पड़कर कहीं हम अपने उत्कृष्ट अवदानों को छोड़ तो नहीं रहे हैं। तभी हम ऐसे तत्त्वों को ग्रहण करने में समर्थ होंगे, जिनकी सहायता से अपने देश पर होने वाले अपसंस्कृतियों के प्रभाव से उसकी रक्षा कर सकें।

इसके लिए यों तो वेदों से लेकर आजतक विकसित आध्यात्मिकता के सभी उत्कृष्ट अवदानों को ग्रहण करना होगा, किन्तु आज की परिस्थिति में सन्तों की वाणियाँ हमारे लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। उनका सार हम इस एक वाक्य में प्रकट कर सकते हैं—"**जात-पाँत पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि को होई**"। शैव सिद्धान्तशास्त्र की मकुटसंहिता का भी कहना है कि ब्राह्मण गलत काम करता है और शूद्र सही दृष्टि से सम्पन्न है, ऐसी स्थिति में जाति की क्या भूमिका हो सकती है? इसका अभिप्राय यह है कि सही और गलत दृष्टि में जाति की कोई भूमिका नहीं मानी जानी चाहिए, सही कार्य को ही मान्यता मिलनी चाहिए। मकुटसंहिता का ही दूसरा वचन भी इसी बात की पुष्टि करता है। वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मण यदि कपटी है, तो उसका बहिष्कार होना चाहिए और सरलचित्त म्लेच्छ का सत्कार, क्योंकि सरलता भगवान् शिव को प्रिय है, कुटिलता नहीं। इसी तरह के वचन हमें पुराण आदि शास्त्रों में भी मिलते हैं।

तन्त्रागमों और पुराण आदि की बात छोड़िए, मनुस्मृति का भी कहना है कि मनुष्य के हृदय में धर्मराज का निवास है। यदि उनके साथ कोई विवाद नहीं है, अर्थात् हृदय के द्वारा समर्थित सही बात का ही यदि आप पालन करते हैं, तो फिर आपको गंगा-स्नान और कुरुक्षेत्र की यात्रा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मालिनीविजय-तन्त्र का भी कहना है कि तीर्थयात्रा, तिलकधारण आदि आप करें या न करें, इनका इतना महत्त्व नहीं है, महत्त्व इस बात का है कि आपके चित्त के परिष्कार में इनकी कैसी भूमिका है। सहज रूप से आप अपनी चर्या ऐसी बनावें कि उससे आपके चित्त की निर्मलता में निरन्तर बढ़ोतरी होती रहे। बौद्ध तन्त्रों में भी चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर जोर दिया गया है। मनुष्य का मन खान में पड़ी मणि के समान मलिन है। शाण पर चढ़ाकर उसे चमकाया जाता है। इसी तरह मनुष्य के मन को भी सहज चर्या के आधार पर प्रभास्वर बनाया जा सकता है। "**सन्तों सहज समाधि भली**" इस सन्तवाणी में इस सहज चर्या का ही उल्लेख है। कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में अनुपाय प्रक्रिया के रूप में इसका वर्णन किया गया है।

ऊपर दिये गये विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल नए सिरे से ब्राह्मणवाद और मनुवाद का जो भूत खड़ा किया जा रहा है, उसका प्रतिवाद तन्त्रों और सन्तों ने बहुत पहिले कर दिया था। उसका प्रभाव पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ, ऐसा

माना जा सकता है, किन्तु सर्वत्र आपस में झगड़ा बढ़ाने वाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत हो, इस खाई को पाटने की जगह यदि उसे चौड़ा किया जाता है, तो यह भारतीय संस्कृति का उपहास ही माना जायेगा। इसीलिए यह देश दिनानुदिन अवसाद और हीनभावना से ग्रस्त हो मार्गच्युत होता जा रहा है।

भारत में उदारदृष्टि का विकास उपनिषत्काल में ही हो चुका था। सत्यकाम जाबाल, महिदास ऐतरेय आदि के कथानकों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आगम-तन्त्रशास्त्र, महाभारत एवं पुराणों में भी हमें इस तरह की उदारदृष्टि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उसीकी चरम परिणति सन्तों की वाणियाँ हैं। तमिलनाडु में १२ आलवार वैष्णव भक्तों और ६३ शैव सन्तों का विपुल साहित्य उपलब्ध है। आलवारों के उपदेश तमिलवेद के नाम से प्रसिद्ध हैं और इन सबमें वर्ण, लिंग आदि का बिना भेद किए सभी को समान आदर मिला है। भक्तों, सन्तों, सिद्धों की यह परम्परा एक समय पूरे भारतवर्ष में फैल गई। आचार्य रामानुज के प्रधान शिष्य कूरेश की रामभक्ति-परम्परा इसी उदारदृष्टि का अनुसरण करती है और उसी परम्परा में आचार्य रामानन्द का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। सन्त कबीरदास आदि इन्हींकी शिष्य-परम्परा में आते हैं। इन्होंने उत्तरभारत में आकर भक्तों और सन्तों की परम्परा को परिपुष्ट किया। सिद्धों और नाथों के उपदेशों से भी यह भूमि आप्यायित रही है और गुरुओं के उपदेशों पर भी इनका गहरा प्रभाव रहा है। महात्मा गांधी का सारा जीवन गुजरात के भक्तशिरोमणि नरसी मेहता के भजन "**वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर परायी जाणे रे**" से अनुप्राणित था।

आज इस सारे साहित्य का कालक्रम के अनुसार अतिसंक्षेप में परिचय सभी भाषाओं के माध्यम से सारी दुनिया को हो, यह आवश्यक है। इसीके साथ ईसाई एवं सूफी सन्तों के उपदेशामृत का पान भी पूरे विश्व की जनता कर सके, यह भी जरूरी है। तभी मानव की दृष्टि ईर्ष्या-द्वेष आदि दुर्गुणों के स्थान पर प्रेम और भाई-चारे से भर सकेगी। इसके बिना मानव-जाति का सुख-शान्ति से जीना दूभर हो जायेगा।

●●●

भडोपाह्वः काशीनाथभट्टस्तत्कृतयश्च

तन्त्रागमशास्त्रस्य प्रथिततमानां विदुषां प्रो. चिन्ताहरणचक्रवर्तिमहोदयानां "काशीनाथभट्ट एण्ड हिज वर्क्स" इति नामको निबन्धो[1] नूनमस्माकं दृष्टिपथमायातः। तदाऽस्माभिरपि वाराणसीस्थे "सरस्वती भवन" इत्याख्यया प्रसिद्धिमागते हस्तलेख(मातृका)ग्रन्थागारे भूयांसो ग्रन्था अवलोकिता भडोपाह्वस्य काशीनाथभट्टस्य। तत्र नैके ग्रन्थास्तादृशा आसन्, येषां नामानि निबन्धेऽस्मिन् नैव सन्दर्भितानि। चक्रवर्तिमहोदयैः षोडश [2]मातृका-(हस्तलेख)- विवरणसूचीनां साहाय्येन सप्तपञ्चाशत्(५७)संख्याकानां ग्रन्थानां परिचयः समुपस्थापितो विषयविभागमनुसृत्य। अत्र प्राधान्यं कलिकातास्थ-एशियाटिक-सोसाइटी-मातृकाणां विद्यते। एकादशपृष्ठात्मकेऽस्मिन् निबन्धे प्रारम्भिकेषु प्रायश्चतुर्षु पृष्ठेषु काशीनाथस्य, तत्पितुः, पितामहस्य, अनन्ताख्यस्य गुरोरन्येषां च केषाञ्चन विदुषां परिचयः प्रस्तुतः। काशीनाथसम्बद्धानां वसतीनाम्, तदीयस्य कालस्य च पूर्वापरे सीमनी अत्र निर्धारिते। काशीनाथो हि दक्षिणामूर्तिशिवस्य दक्षिणाचारपद्धत्या समुपासक आसीत्, वामाचारपद्धतिश्च तेन निराकृता। निबन्धकारेण[3] दक्षिणाचारवामाचारपद्धत्योः संक्षिप्तं विवरणमुपस्थाप्य काशीनाथस्य तन्त्रागमशास्त्रप्रावीण्यं सप्रमाणं स्थापितम्। अत्र यदस्माभिर्वक्तव्यम्, तदनुपदमेव चर्च्यते।

अस्माभिरत्र प्राधान्येन सरस्वतीभवनस्थितानां प्रायः पञ्चाशत्परिमितानां मातृकाणां तदन्यग्रन्थागारीयविवरणात्मकसूचीषु च विवृतानां ग्रन्थानां पुष्पिकावाक्यानि सङ्कलितानि। सप्तनवतिसंख्याका ईदृशा ग्रन्था भडोपनामकस्य काशीनाथभट्टस्य अत्राक्षरानुक्रमेण परिचायिताः सन्ति। संगृहीतैरेतैः पुष्पिकावाक्यैर्नानाविधाः सूचनाः समधिगम्यन्ते, यैश्चक्रवर्तिमहोदयैः काशीनाथादीनां विषये प्रदत्तस्य परिचयस्य पुष्टिर्भवति, काश्चन नूतनाः सूचनाः प्राप्यन्ते, कुत्रचिच्च संशोधनानि स्थापयितुं शक्यन्ते। चक्रवर्तिमहोदयैः स्वकीये निबन्धे ये ये ग्रन्था विवृतास्तेषामपि निर्देशोऽत्र विद्यते पृष्ठसंख्यानिर्देशपुरस्सरम्। अनया पद्धत्या चक्रवर्तिविवृतानां सरस्वतीभवनस्थानामुभयत्र वा स्थितानां ग्रन्थानां परिचयः सारल्येन समुपलभ्येत।

---

१. "जर्नल ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल" (लेटर्स) (भा. ४, सन् १९३८, नं. ३) इत्यत्र मुद्रितोऽयं निबन्धः।

२. पूर्वोक्तस्य निबन्धस्यान्तिमे पृष्ठे (पृ. ४६५) परिचयो द्रष्टव्यः।

३. दक्षिणाचार-वामाचारशब्दौ परवर्तिषु तन्त्रागमग्रन्थेषु प्रथिततमौ। चक्रवर्तिनिबन्धे (पृ. ४५६) खण्डन-मण्डनपराः काशीनाथस्य ग्रन्थाश्च द्रष्टव्याः।

काशीनाथभट्टः

निबन्धेऽस्मिन् संगृहीतासु पुष्पिकासु [1]भडोपनामकस्य काशीनाथस्य तत्पितुर्जयरामभट्टस्य, तत्पितामहस्य [2]शिवरामभट्टस्य, गुरोरनन्तस्य च प्रायो बाहुल्येनोल्लेखो वर्तते। काशीनाथस्य दीक्षानाम [3]शिवानन्दनाथ इत्यपि यत्र तत्र सूच्यते। एवमेव विश्वनाथनाम्नाऽपि सोऽत्र (क्र. ६६, ९४) स्मर्यते। अन्यत्र (क्र. ८१) विश्वनाथपदेन काशीपुराधीशो विश्वेश्वरः स्मर्यते। भड इति, भट्ट इति, भट्टभट्ट इति च विभिन्नसामाजिकस्थितिसूचकानि पदानि तज्ज्ञैरेव परीक्षणीयानि। [4]"श्रीवैद्यनाथचरणारविन्दमिलिन्देन" इत्यादिभिः पुष्पिकावाक्यैर्ज्ञायते वैद्यनाथोऽयं काशीनाथभट्टस्य गुरुरिति। स स्पष्टमेव वक्ति—"वैद्यनाथप्रसादेन मन्त्रसारसमुच्चयः। नाम्ना पुत्रः सतां वन्द्यो मम वक्त्राद्विनिर्गतः॥" इति। "श्रीकाशीनाथात्"[5] इत्यादि-श्लोकेन ज्ञायते यत् ४६-क्रमाङ्कस्थितदक्षिणामूर्तिशेखरटीकाकर्ता दीनानाथः काशीनाथेन लब्धदीक्षस्तच्छिष्य इति। अतो नायं ग्रन्थः काशीनाथस्य, किन्तु तच्छिष्यस्य दीनानाथस्येति विभावनीयम्। श्राद्धनिर्णयदीपिका-मातृकाया लेखकोऽपि "हस्ताक्षरदवेत्युपनामरङ्गनाथात्मजदीनानाथः। अनेन काश्यां संवत् १८७३ श्रावणशुक्ल-१४ भौमवासरे मातृकेयं समाप्तिं नीता" इति सूचयति। सोऽयं दीनानाथो दक्षिणामूर्तिशेखरटीकाकर्ता दीनानाथः काशीनाथशिष्य एव स्यात्। काशीनाथस्यानन्ताख्यो गुरुरिति बहुभिः पुष्पिकावाक्यैर्ज्ञायते; किन्तु मन्त्रसारसमुच्चयटीकापुष्पिकायाम्—"काशीनाथसुतललितागर्भसंभवानन्तभट्टविरचितायाम्" इति दर्शनाद् मन्त्रसारसमुच्चयस्य टीकाकारोऽनन्तः काशीनाथस्य पुत्रः, अस्य मातुश्च नाम ललितेति ज्ञायते। मन्त्रसारसमुच्चटीका काशीनाथेनापि रचितोपलभ्यते। अतोऽनयोर्भिन्नाभिन्नत्वं परीक्षणीयमास्ते।

सोऽयं भडोपनामकः काशीनाथो जयरामात्मज इति, वाराणसीगर्भसम्भव इति, दक्षिणाचारानुसारीति, दक्षिणाचारमतप्रवर्तक इति, मन्त्रशास्त्रप्रवीण इति, शिवभक्त इति, परमशिवभक्त इति, शिवभक्तसूनुरिति, शिवाराधक इति, तन्त्रशास्त्रधुरीण इति,

---

१. भडोपनामक इत्यस्य स्थाने भट्टोपनामक इत्यपि पाठो यत्र क्वचन दृश्यते।

२. अलवर-मातृकायां शिष्यराम इति नाम वर्तत इति चक्रवर्तिनः ४५५-पृष्ठे, २ टिप्पण्याम्।

३. क्र. २७, ५८, ७०, ८७ स्थितग्रन्थपुष्पिकावाक्यानि द्रष्टव्यानि। अत्र शिवानन्दनाथ इति, विश्वनाथ इति च नामद्वयविषये चक्रवर्तिनिबन्धस्था (पृ. ४५५) प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या।

४. अत्र ६०-६१ (क) क्रमाङ्कस्थग्रन्थयोः पुष्पिकावाक्ये द्रष्टव्ये। ६८-क्रमस्थमातृकालेखको ब्राह्मणवैजनाथस्तु भिन्न एव।

५. क्र. ४६-दक्षिणामूर्तिशेखरटीकापुष्पिका, क्र. ९२-श्राद्धनिर्णयदीपिकापुष्पिका चावलोकनीया।

श्रुतिस्मृतिमतप्रमाणपारावारीण इति, सर्वतन्त्रदक्षिणाचारतन्त्रधुरीण इति च नानाविधैर्विशेषणैः पुष्पिकावाक्येषु सभाजितो शतप्रायाणां नानाविषयकग्रन्थानां रचयितेति नानाशास्त्रवैदुष्यमस्य स्फुटीभवति।

जयरामभट्टः (पिता)

काशीनाथस्य पितुर्नाम जयरामभट्ट इति प्रायः सर्वासु मातृकासु स्थापितैः पुष्पिकावाक्यैरेव ज्ञायते। अत्र सोऽयं श्रुतिस्मृतिमतप्रमाणपारावारीण इति, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र इति, दक्षिणाचारतन्त्रधुरीण इति, भट्टोपाह्व इति, दक्षिणामूर्तिचरणारविन्दमिलिन्द इति, शिवरामभट्टाङ्गज इति च विशेषणैः सभाजितः। तन्त्रहृदयमातृकापुष्पिकायां (क्र. ३१) सोऽयं भट्टभट्ट इति वाराणसीविद्वन्मण्डलीषु समादरातिशयसूचकेन विशेषणेन समलङ्कृत आस्ते। "नानातन्त्राणि विज्ञाय जयरामपितुर्मुखात्" (क्र. ३३) इति वचनेन जयरामोऽयं काशीनाथस्य गुरुरपीति ज्ञायते। "गङ्गातीरे गह्वरेण रामलिङ्गस्य सूनुना। लिखिता जयरामेण आनन्दवनवासिना॥" (क्र. ५७घ) इत्यत्र स्मृता मन्त्रचन्द्रिका काशीनाथ-रचितमन्त्रचन्द्रिकया भिन्ना। जयरामश्चायं रामलिङ्गस्य सूनुरिति शिवरामसुतकाशीनाथपितुर्जयरामभट्टतो भिन्न एव।

शिवरामभट्टः (पितामहः)

श्रीमद्भडो(ट्टो)पनामकशिवरामभट्टाङ्गजजयरामभट्टसुतशिवभक्तसूनु-तन्त्र-शास्त्रप्रवीण-दक्षिणाचारानुसारि-काशीनाथभट्ट.....इतीदृशेषु केषुचित् पुष्पिकावाक्येषु काशीनाथस्य पितामहोऽयं स्मर्यते। मन्त्रशास्त्रप्रवीण इत्यपि कुत्रचिद् दृश्यते, दक्षिणाचारमतप्रवर्तक इति च। नातोऽधिकं शिवरामभट्टस्य विषयेऽत्र किमपि समुपलभ्यते। ५४-क्रमाङ्कितः प्रायश्चित्तव्यवस्थासारसंग्रहो वंगलिपिमयः सरस्वतीभवनग्रन्थालये वर्तते। सप्तं प्रणम्य काशीनाथेन रचितोऽयं ग्रन्थः। सप्तशब्देनात्र सप्ताश्वः सूर्य एव वन्दितः स्यात्। "श्रीशिवनाथदेवशर्मणः पुस्तकमिदं स्वाक्षरं च" इति पुष्पिकावाक्येन वंगीयेन विदुषा वंगलिप्यां लिखितमिदं पुस्तकमिति ज्ञायते। अत्रैव ८७तमे क्रमाङ्के शिवानन्दविरचिता शिवार्चाविधिपद्धतिर्वर्तते। ग्रन्थस्यास्य शिवरामेण कथमपि सम्बन्धः स्थापयितुं न शक्यत इति काशीनाथग्रन्थेषु नास्य समावेशः कर्तव्यः।

अनन्तः (गुरुः)

"अनन्ताख्यं गुरुं नौमि" इत्येवं बहुषु पुष्पिकावाक्येषु स्थितेन वचनेन काशीनाथस्य गुरोर्नाम अनन्त इति ज्ञायते। अस्मिन् वाक्ये कवित्वप्रतिभाकर इति शास्त्रवल्लीजलधर इति च विशेषणद्वयेन स सभाज्यते। वैदिकतान्त्रिकाधिकारिनिर्णये

(आगमोत्पत्त्यादिवैदिकतान्त्रिकनिर्णये) अत्र ७४क्रमसंख्यायां स्थापिते ग्रन्थे ३(ख)तमे पत्रेऽनन्तभट्ट उद्धृतः। सोऽयमनन्तो[1] ग्रन्थकर्तुः काशीनाथस्य मातामह इति चक्रवर्तिमहोदयाः सूचयन्ति। तत्र प्रमाणत्वेनोद्धृते ''अनन्ताख्यं गुरुं नौमि कवित्वप्रतिभाकरम्। शास्त्रवल्लीजलधरं स्फुरत्कीर्तिकरं परम्॥'' इत्यस्मिन् वचने तु तन्न दृश्यते।

अत्र ६१क्रमसंख्यायां ''मन्त्रसारसमुच्चयटीका'' इत्याख्ये मातृके विवृते। तत्र प्रथममातृकापुष्पिकावाक्येन काशीनाथगुरुर्वैद्यनाथो मन्त्रसारसमुच्चयकर्ता ''गुरुं श्रीमत्पञ्चभाई इत्युपनामकानन्तभट्टाख्यम्'' इत्येवमनन्ताख्यं गुरुं स्मरति। गूढार्थादर्शाख्यटीकाकारोऽत्र काशीनाथः। तेनाऽत्र स्मृतोऽनन्तोऽयं काशीनाथस्य गुरुरेव स्यात्। अपरस्यां मातृकायामपि—''श्रीमत्पञ्चभाई इत्युपनामकानन्तभट्टाख्यं गुरुम्'' इति वाक्यं दृश्यते। एषा च मातृका पदार्थादर्शाख्यटीकायाः। अस्याश्च कर्ता काशीनाथसुतो ललितागर्भसम्भवोऽनन्तभट्टोऽत्र निर्दिष्टः। तेन काशीनाथस्य पुत्रोऽप्यनन्तभट्ट इति विभावनीयम्। उभाभ्यामपि पितृपुत्राभ्यां मन्त्रसारसमुच्चयो व्याख्यातः। तत्र काशीनाथकृता टीका गूढार्थादर्शनाम्नी, अनन्तकृता च पदार्थादर्शनाम्नीति विभज्य ज्ञातव्यम्। ६०क्रमसंख्याक-मन्त्रसारसमुच्चय-मातृकायां तु काशीनाथभट्टोऽस्य कर्तेति सूच्यते। अत्रैव ''वैद्यनाथप्रसादेन'', ''वैद्यनाथचरणारविन्दमिलिन्देन'' इति च विशेषणद्वयं काशीनाथेन सह संयोज्यत इति ग्रन्थकारस्य टीकाकारयोश्च सम्यक् परिचयः समेषामेषां ग्रन्थानां सामस्त्येनाध्ययनानन्तरमेव ज्ञायेत। अनन्तेन काशीनाथभट्टगुरुणा तत्त्वबोधाख्यो ग्रन्थो रचित इति चक्रवर्तिमहोदयाः सूचयन्ति, रामपूजातरङ्गिणी चात्र तैश्चर्चिता (पृ. ४५५)।

वासस्थानम्, आश्रयदाता च

काशीनाथभट्टो [2]वाराणसीवास्तव्य इति तु निश्चप्रचम्। पुष्पिकावाक्येषु पन्नगपुरे (क्र. ३१), पुण्यग्रामे (क्र. ३३, ८४), चन्द्रपुरपीठे (क्र. ७७), नागपुरे (क्र. ८६ख), फणिपुरे (क्र. ९७ क) इति च दर्शनादेषु स्थानेषु तास्ता मातृका लिखिता इति ज्ञायते। अत्र पन्नगपुरम्, फणिपुरमिति च नागपुरस्यैव पर्यायान्तरमिति ज्ञातव्यम्। तेन पुण्यग्रामे, नागपुरे, चन्द्रपुरपीठे च ग्रन्थकारेण प्रवासः कृतः स्यादिति संभाव्यते। ''लिखितं ब्राह्मण बैजनाथ लिखायितं श्रीकृष्णजी, सं. १८४७ रामाय नमः'' (क्र. ६८) इत्यत्र

---

१. चक्रवर्तिनिबन्धे पृष्ठसंख्या ४५५तमी, तत्रत्या तृतीया टिप्पणी च द्रष्टव्या।

२. चक्रवर्तिमहोदयानां ४५६-तमपृष्ठस्था प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्याऽत्र। एतैः स्वनिबन्धे ब्रह्मानन्दस्य नाम चर्च्यते।

स्थाननिर्देशो नास्ति। शिवाद्वैतप्रकाशिकाया मातृका (क्र. ८६ख) नागपुरे भवानीपण्डितगृहे लिखिता। ''स्वकार्ये परकार्ये वा गुरुदत्ताख्यधीमता। लिखेन्मेतत्पुरे(?) रम्ये गोपालाख्येषु चैव हि॥'' (क्र. ९७ ख) इत्यत्र लिपिकारो गुरुदत्तः, गोपालपुरं लिपिस्थानमिति कल्पयितुं शक्यते। द्वितीया च संक्षेपाह्निकचन्द्रिकामातृका (क्र. ९७ क) विश्वनाथात्मजहरभट्ट-मयूराश्वोपनाम्ना पुण्यस्तम्भनिवासिना फणिपुरे लिखिता। अत्र पुण्यग्राम एव पुण्यस्तम्भ इति कल्पना साध्वी न वेति विद्वांस एव प्रमाणम्।

अपि च, क्र. ४४-स्थितदक्षिणामूर्तिचन्द्रिकापुष्पिकायाम्—''मण्डलेशपुराधीशः श्रीमद्रमणव्यङ्कटः। तस्याश्रयप्रदानेन निर्मिता वृत्तिरुत्तमा॥'' इति श्लोको वर्तते। तेन ज्ञायते कश्चन मण्डलेशपुराधीशो रमणव्यङ्कटः काशीनाथस्य आश्रयदाताऽऽसीदिति। विषयेऽस्मिन् नाधुना किमपि वक्तुं शक्यते।

काशीनाथो दक्षिणामूर्तिसमुपासकः

काशीनाथभट्टेन मङ्गलपद्येषु प्रायः पञ्चाशदधिका देवताः स्तूयन्ते, तथापि प्राधान्यं तत्र दक्षिणामूर्तिशिवस्यैव वर्तते। न केवलं शिवस्य, नानारूपाणां शक्तीनामपि समुपासकोऽयं दक्षिणाचारपद्धत्यैव ताः समर्चयति। दक्षिणाचारमतप्रवर्तकोऽयं तत्समर्थकान् वामाचारखण्डनपरांश्च ग्रन्थान् रचयति। प्रसिद्धावेतौ शब्दाविति नात्र तद्व्याख्यानाय प्रयत्यते। ''राजराजेश्वरी गङ्गा माधवो मणिकर्णिका। अन्नपूर्णा च विश्वेशः'' श्लोकोऽयमत्र स्थलचतुष्टयेषु (क्र. २७, ५८, ६१, ६९क) दृश्यते। एवमेव ''विश्वेश्वरं विशालाक्षीं ढुण्ढिराजं च माधवम्। दण्डपाणिं कालराजम्'' इत्यपि श्लोकोऽत्र (क्र. ५७ख) वर्तते। एतदनुकारम्—''विश्वेशं माधवं ढुण्ढिं दण्डपाणिं च भैरवम्। वन्दे काशीं गुहां गङ्गां भवानीं मणिकर्णिकाम्॥'' इति श्लोकः काशीवासिभिः सादरं पठ्यते।

नामावल्यामस्यां सप्तपदेन (क्र. ५४), अचलेशपदेन (क्र. ७७) च कस्याः कस्या देवताया ग्रहणमिति चिन्तनीयम्।

काशीनाथस्य कालः

अत्र संगृहीतेषु मातृकापुष्पिकावाक्येषु १८३९तमविक्रमसंवत्सरत आरभ्य १९१०तमसंवत्सरपर्यन्तं तिथिक्रमो निर्दिष्टो वर्तते। यत्र क्वचन शकसंवत्सरकालोऽप्युट्टङ्क्यते। ज्ञानार्णवतन्त्रटीकासमाप्तिकालः काशीनाथेनेत्थं निर्दिष्टः—''प्रभवाब्दे त्विषे शुक्लपञ्चम्यां ललिताप्तये। श्रीशिवानन्दनाथेन काशीनाथाख्यशर्मणा। कृता टीका गुरुप्रीत्यै भजन्तु सदुपासकाः॥'' इति। सार्धश्लोकममुं टिप्पण्याम् (पृ. ४५७) उद्धृत्य चक्रवर्तिमहोदयैः १६८७, १६३७, १७४७ई. वत्सरेषु प्रभवाब्दस्य

स्थितिः सूचिता। अत्रान्तिमा तिथिरेव ज्ञानार्णवतन्त्रटीकासमाप्तिकाल इति निश्चेतुं शक्यते, इतः परवर्तिनामेव सर्वेषु पुष्पिकावाक्येषु तिथीनां दर्शनात्। तेन अष्टादशी, ऊनविंशी च ई. शताब्दी स्थितिकालोऽस्य निर्धारयितुं शक्यते।

काशीनाथभट्टस्य पूर्वकालसीमानिर्धारणार्थं चक्रवर्तिमहोदयैर्भट्टोजीदीक्षितस्य महीधरस्यामृतानन्दनाथस्य च कालावधिर्निर्धारितः (पृ. ४५७)। अत्र काशीनाथग्रन्थेषु कवीन्द्राचार्यस्य भास्कररायस्य च स्मरणात् ततः परमेवास्य स्थितिः साधनीया। चक्रवर्तिस्मृतग्रन्थकारत्रयापेक्षया परवर्तिनावेतावाचार्याविति काशीनाथभट्टस्य पूर्वकालसीमानिर्धारणे संकोचः समायाति। तथा हि योगिनीहृदयदीपिकाकारोऽमृतानन्दस्त्रिष्वाचार्येषु प्राचीनतमः। तस्य हि [१]कालोऽस्माभिश्चतुर्दशशताब्द्या उत्तरार्धे स्थापितः। [२]माधवानन्दनाथशिष्योऽष्टाङ्गनिर्णयामृतचषकस्य कर्ताऽमृतानन्दस्तु दीपिकाकारतोऽतीवार्वाचीन इति विभावनीयम्। भट्टोजिदीक्षितस्य महीधरस्य च स्थितिकालः षोडशी शताब्दीति चक्रवर्तिमहोदया एव सूचयन्ति। एतदपेक्षया कवीन्द्राचार्यस्य (नृसिंहाश्रमस्य) समयस्तदीयकविकल्पद्रुमकाव्यसाहाय्येन निर्धारयितुं शक्यते। तत्र हि दाराशिकोहेन प्रथितेन मुस्लिमसंस्कृतविदुषा शाहजहाँपुत्रेण प्रेषितं पत्रं संस्कृतभाषामयमेवमुट्टङ्क्यते— ''शङ्कराचार्यसमानेषु नृसिंहाश्रमेषु.....ॐ नमो नारायणायेत्यष्टाक्षरमन्त्रपूर्वका नमस्काराः सन्ति''[३]। कवीन्द्राचार्यविरचिते कविचन्द्रोदयकाव्ये काशीनाथेन टीका निर्मितेति निश्चितमेव काशीनाथस्तत्परतरः। अत्र क्र. ९-मातृकाविवरणं द्रष्टव्यम्। एवमेव काशीनाथेन ७०-क्रमस्थे ललितासहस्रनामटीकाख्ये ग्रन्थे भास्कररायकृतं ललितासहस्रनामभाष्यं स्मृतम्। भास्कररायस्य च समयः श्रीमद्भिः शास्त्रिवर्यैर्बटुकनाथखिस्तेमहोदयैः १६७५ ई. वर्षतः १८६८ ई.पर्यन्तं निर्धारितः[४]। तेन तत्पश्चाद्वर्ती तत्समसामयिको वा काशीनाथ इति मन्तव्यम्।

काशीनाथरचिता ग्रन्थाः, तन्मातृकाश्च

चक्रवर्तिमहोदयैः काशीनाथग्रन्थानां परिचयो विषयविभागमङ्गीकृत्य कृतः, अस्माभिश्चाक्षरानुक्रमेणेति पूर्वमुक्तमेव। ग्रन्थानामेषां सर्वेषां पौर्वापर्यं साम्प्रतं निर्धारयितुं न शक्यते, यथा हि केषाञ्चन कृतं चक्रवर्तिमहोदयैः[५]। सर्वेषामेषां ग्रन्थानां प्रकाशनं

---

१. तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन : भाग-२, प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी (पृ. ६१५-६१७)।
२. तन्त्रयात्रा : प्रो. व्रजवल्लभद्विवेदः (पृ. ३९)।
३. निगमागम संस्कृति : प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी (पृ. ११५)।
४. भास्करराय भारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : प्रो. बटुकनाथशास्त्री खिस्ते, डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय (पृ. २०-२३)।
५. विषयेऽस्मिन् तन्निबन्धस्था (पृ. ४५७) द्वितीया टिप्पणी द्रष्टव्या।

चिकीर्षितं सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयेन। तदैव सामस्त्येन कालक्रमोऽयमुपलब्धप्रमाणसाहाय्येन कर्तुं शक्यते चक्रवर्तिपद्धत्या। अत्रास्माभिः सप्तनवतिमितानां काशीनाथग्रन्थानां परिचयः प्रस्तुतः। अन्येऽपि केचन ग्रन्थाः स्युः, तेषामुद्धारोऽपेक्षितः। सप्तनवतिमितेषु ग्रन्थेषु न सन्ति सर्वे ग्रन्थाः काशीनाथस्यैवेति नामावल्या अस्याः परीक्षणमपेक्षितम्। तदेवात्र क्रममनुरुद्ध्य विधीयते।

तथा हि—४६क्रमाङ्कस्था दक्षिणामूर्तिशेखरटीका न काशीनाथभट्टविरचिता, किन्तु तच्छिष्यस्य दीनानाथस्य कृतिः। ४८क्रमस्थो 'नामपारायणप्रकारः' केन रचित इति नाधुना ज्ञातुं शक्यते। किञ्च, ५७क्रमस्थमन्त्रचन्द्रिकाया मातृकाचतुष्टयमत्र विवृतम्। तत्र चतुर्थी मातृका न काशीनाथेन, किन्तु रामलिङ्गस्य सूनुना जयरामेण रचितस्य ग्रन्थस्य। ६१(ख)क्रमस्था 'मन्त्रसारसमुच्चयटीका' काशीनाथेन तत्पुत्रेणानन्तेन च रचितेत्यनयोर्भिन्नाभिन्नत्वं परीक्षणीयम्। ८७क्रमस्था 'शिवार्चापद्धतिः' शिवानन्दस्य ग्रन्थः। सोऽयं शिवानन्दः शिवानन्दनाथात् काशीनाथाद् भिन्नोऽभिन्नो वेति परीक्षणीयम्। एवमेव ७४क्रमस्थः 'वैदिकतान्त्रिकाधिकारिनिर्णयः', ३ क्रमस्थः 'आगमोत्पत्त्यादिवैदिकतान्त्रिकनिर्णयः' इति वा ग्रन्थः ८०क्रमस्थ-शास्त्रव्यवस्थाख्यग्रन्थतोऽभिन्न एव स्यात्। चक्रवर्तिमहोदयैः (पृ. ४५९) पृथक्-पृथग् एतौ विवृतौ। शिवसिद्धान्तमञ्जरी शैवसिद्धान्तमञ्जरी च एकस्यैव ग्रन्थस्य नामद्वयं प्रतीयते। न्यूनतामागता काशीनाथग्रन्थानामेषा संख्या नूतनग्रन्थानामुपलब्ध्या परिबृंहिताऽपि स्यादिति संख्यायामस्यां नात्यादरो विधेयः। अपि च, ६०क्रमस्थ-मन्त्रसारसमुच्चय-मातृकासमाप्तौ कश्चन वैष्णवसम्प्रदायस्य ग्रन्थः काशीनाथेन लिखित इति तस्यापि परीक्षणमावश्यकम्। एवमेव ७९(क)क्रमस्थ-शारदातिलकटीकामातृकायां चत्वारोऽन्येऽपि ग्रन्था लिखिताः सन्ति—श्यामाभक्तिसुधार्णव-ग्रहमन्त्रप्रदीपिका-तन्त्रसारटीका-प्रपञ्चसारटीका इत्याख्याः। सर्वे चैते ग्रन्थाः काशीनाथेन रचितेभ्यो ग्रन्थेभ्योऽभिन्ना एव प्रतीयन्ते।

काशीनाथरचितग्रन्थमातृकापुष्पिकास्वत्र संगृहीतासु द्वौ श्लोकौ विशेषतोऽवधानार्हौ दृश्येते। तौ चेमौ—

यावल्लवणसमुद्रो यावन्नक्षत्रमण्डितो मेरुः।
यावच्चन्द्रादित्यौ तावदिदं पुस्तकं जयतु॥
सर्वे ब्रह्म वदिष्यन्ति सम्प्राप्ते [तु] कलौ युगे।
नानुतिष्ठन्ति मैत्रेयी [यि!] शिश्नोदरपरायणाः॥

अत्र प्रथमे श्लोके व्यक्तीकृतः सोऽयमभिलाषो ग्रन्थकारस्य स्वकृतिविषये स्वाभाविक एव। द्वितीये च श्लोके "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव" इत्याभाणकस्यैवाभिप्रायो द्योत्यते।

अन्ते च कवीन्द्राचार्यग्रन्थालयसंगृहीतेषु सर्वेषु ग्रन्थेषु—''सर्वविद्या-निधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनामिदं पुस्तकम्'' इति वाक्यं सर्वत्र यथोपलभ्यते, तथैव काशीनाथग्रन्थेष्वपि—''मालवीय-बालमुकुन्दस्येदं पुस्तकम्'' इति लिखितं दृश्यते। मालवीय-बालमुकुन्दस्य च विषयेऽनुशीलनमपेक्षितम्। इति शिवम्॥

●●●

परिशिष्ट-१

निबन्ध-सूची (हिन्दी-संस्कृत)

१. आगम और तन्त्रशास्त्र (दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन), दिल्ली, सन् 1984

१. आगम और तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन
२. तान्त्रिक संस्कृति और वाङ्मय
३. साहित्य संस्थान में आगमशास्त्र के विशिष्ट ग्रन्थ (हस्तलेख)
४. ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण
५. महाभारत का नारायणीयोपाख्यान
६. श्रद्धेय श्री गोपीनाथ कविराज का अखण्ड महायोग
७. तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि : विश्वाहन्ता
८. सिद्ध और सहजयान
९. तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य
१०. योगी अमृतानन्द
११. आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टिप्रक्रिया
१२. सद्गुरु साम्राज्य
१३. दक्षिणभारत का भक्ति आन्दोलन
१४. गीता के प्रवक्ता समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण
१५. भागवत की तत्त्व-समन्वय प्रक्रिया
१६. नयी स्थापनाओं की आधारभूमि
१७. हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण
१८. यह भारतीयकरण क्या है ?
१९. राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता : एक राष्ट्रीयता और अखण्ड संस्कृति
२०. महात्मा गांधी : अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता
२१. वर्णाश्रमधर्म, दलित जातियाँ और धर्म-परिवर्तन
२२. बौद्ध दीक्षा : एक समीक्षा
२३. भारतीय चिन्तन-परम्परा में नये दर्शनों की संभावनायें
२४. संस्कृत और भारतीय संस्कृति का भविष्य
२५. संस्कृत शिक्षा का व्यापक दृष्टिकोण
२६. क्या धर्म-परिवर्तन की गति थमेगी ?

२. निगमागम संस्कृति, वाराणसी, सन् १९९२

२७. न्यायसिद्धांजन समीक्षा
२८. निगम और आगम में समन्वय
२९. शैवागम-संमत जीवात्मस्वरूप
३०. काश्मीर शैवशास्त्र की सामयिक उपयोगिता
३१. सन्त कबीर के प्रेरक तत्त्व
३२. बौद्ध और बौद्धेतर योगतन्त्र का तुलनात्मक विवेचन
३३. सप्तविधालंकाराख्यायिका न्याय
३४. बौद्ध एवं शैव-शाक्त तन्त्रों का समान दृष्टिकोण
३५. तन्त्रालोक-उपोद्घात समीक्षा
३६. सरस्वतीभवन का एक अलभ्य ग्रन्थ
३७. प्रख्यात वेदभाष्यकार महीधर
३८. सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य और उनका ग्रन्थालय
३९. काशी का एक महान् यात्री
४०. गैरिकसूत्र और उसके रचयिता गंगाराम जड़ी
४१. काशी की वैदिकमण्डली का शाखा-स्वाध्याय
४२. बौद्ध ग्रन्थ-सम्पत्ति
४३. काशी का गुजराती समाज
४४. प्राच्यविद्या परिषद् का गोहाटी अधिवेशन
४५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : प्रतिसमालोचना
४६. तन्त्रशास्त्र के उद्धारक श्रद्धेय कविराज जी
४७. जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य
४८. श्रद्धेय प्राध्यापक : आदर्श मानव
४९. आचार्य बलदेव उपाध्याय और तन्त्रागमीय दर्शन
५०. संस्कृत साहित्य : १९६२ ई.
५१. सांस्कृतिक नवचेतना का अरुणोदय
५२. धर्मनिरपेक्षता एक अवांछनीय शब्द
५३. समाजवादी संस्कृति और उसके नाम पाँच पत्र
५४. भारतीय संस्कृति : साधक-बाधक तत्त्व
५५. अपने मुसलमान भाइयों से
५६. एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक भाषा
५७. धर्म और संस्कृति का अन्तर पहिचानिये

३. भारतीय संस्कृति के नये आयाम, नई दिल्ली, सन् १९९७

४. भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप, वाराणसी, सन् २००२

४. एक विश्व : एक संस्कृति, वाराणसी, सन् २००३

६. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, वाराणसी, सन् २००४

●●●

विशिष्ट संस्कृत निबन्ध

●●●

परिशिष्ट-२

विशिष्ट विषयानुक्रमणी

हमारे अन्य प्रकाशन

१. **लिङ्गधारणचन्द्रिका**—(हिन्दी-भाषानुवादसहिता) — रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

२. **सिद्धान्तशिखामणिः**— तत्त्वप्रदीपिकाख्यसंस्कृतव्याख्यासहितः (मराठी-भाषानुवाद-सहितश्च) — रु० २००.००
संपा० ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

३. **ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम्**—(चतुःसूत्री) अप्पय्यदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिकाख्यसंस्कृत-टीकासहितम् — रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

४. **वीरशैव अष्टावरण विज्ञान**—(हिन्दी और मराठी) — रु० ५०.००
डॉ० ज० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

५. **सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा**— *डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी* — रु० २००.००

६. **निगमागम संस्कृति**—(हिन्दी) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* — रु० २००.००

७. **सूक्ष्मागमः**—(हिन्दी-भाषानुवादसहितः) — रु० १५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

८. **चन्द्रज्ञानागमः**—(हिन्दी-भाषानुवादसहितः) — रु० २००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

९. **मकुटागमः**—(हिन्दी-भाषानुवादसहितः) — रु० १२५.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१०. **कारणागमः**—(हिन्दी-भाषानुवादसहितः) — रु० १७५.००
संपा० प्रो० रामचन्द्र पाण्डेयः

११. **निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्**—(संस्कृत) — रु० ३००.००
लेखकः सम्पादकश्च पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१२. **पारमेश्वरागमः**—(हिन्दी-भाषानुवादसहितः) — रु० ३५०.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१३. **ईशावास्योपनिषद्**—(वीरशैवभाष्यसहिता) — रु० १५०.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१४. **केनोपनिषद्**—(वीरशैवभाष्यसहिता) — रु० २००.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१५. **सिद्धान्तप्रकाशिका**—(हिन्दी-भाषानुवादसहिता) — रु० १००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

१६. **शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः**— (संस्कृत) रु० ३००.००
ज० डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी

१७. **अनुभवसूत्रम्**— *संपा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर* रु० २००.००

१८. **सिद्धान्तशिखोपनिषद्**— (वीरशैवभाष्यसहिता) रु० ३५०.००
संपा० पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

१९. **ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः**— *संपा० डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी* रु० २५०.००

२०. **सिद्धान्तसारावलिः**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० ५५०.००

२१. **श्रीगुरुगीता**— (भाषा-भाष्यसहिता) रु० २००.००
संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

२२. **शिवाद्वैतदर्पणः**— (हिन्दी-भाषानुवादसहितः) रु० १५०.००
प्रो० देवस्वरूप मिश्र

२३. **सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० ३५०.००

२४. **देवीकालोत्तरागमः**— *संपा० पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० १५०.००

२५. **ऋग्वेदीयप्रथममण्डलस्य सायणवेङ्कटमाधव-भाष्ययोस्तुलनात्मक-मध्ययनम्** — (संस्कृत) रु० ४००.००
डॉ० प्रमोदिनी पंडा

२६. **तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन** (दो खण्ड) *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० १२००.००

२७. **साम्ययोगमीमांसा**— *लेखक प्रो० मुकुटबिहारी लाल* रु० ३५०.००

२८. **संस्कृत वाङ्मय में वीरशैव साहित्य**— *श्री षण्मुखैया अक्करमठ* रु० १५०.००

२९. **Candrajnanagama** (English Translation) रु० ३००.००
Dr. Rama Ghose

३०. **Makutagama** (English Translation) रु० १७५.००
Dr. Rama Ghose

३१. **Paramesvaragama** (English Translation) रु० ७००.००
Dr. Rama Ghose

३२. **भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप**— *पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी* रु० ३५०.००

३३. **संस्कृत वाङ्मय वल्लरी**— *डॉ० गंगाधर पंडा एवं डॉ० प्रमोदिनी पंडा* रु० ३००.००

३४. **माण्डूक्योपनिषद्**— *पं० जगन्नाथ शास्त्री तैलंग* रु० ५००.००

●●●

शैवभारती शोध-प्रतिष्ठानम्

डी० ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

फोन नं. (०५४२) २४५०५४६

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान
डी. 35/77, जंगमवाडीमठ
वाराणसी - 221001

ISBN 81-86768-69-6

Rs. 300/-